विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ५ मई २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक ५

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(चौदहवीं तालिका)

५२३. श्रीमती प्रतिभा देशपाण्डे, वसंतनगर, नागपुर (महा.)
५२४. श्रीमती अरुणा डोगरा, सेक्टर १५ ए, चण्डीगढ़
५२५. श्री एन. के. पुरोहित, बैरन बाजार, रायपुर (म.प्र.)
५२६. श्री विमल कुमार गोयनका, जथारपेट, अकोला (महा.)
५२७. श्री प्रभात मेहता, पद्मनाभपुर, दुर्ग (म.प्र.)
५२८. श्री बिहारीदास जी, बांगर, वृन्दावन, मथुरा (उ.प्र.)
५२९. श्री वासुदेव गोरेलाल खैरे, अलीबाग, रायगढ़ (महा.)
५३०. श्रीमती मेघा ठाकरे, जबलपुर (म.प्र.)
५३१. श्री अशोक निलोसे, अनूपनगर, इन्दौर (म.प्र.)
५३२. श्री सुरेश कुमार वर्मा, खरौद, जाँजगीर-चाँपा (म.प्र.)
५३३. श्री चन्द्रकान्त पी. लखानी, जूनागढ़ (गुजरात)
५३४. श्रीमती अनिता मिश्र, नर्मदा रोड, जबलपुर (म.प्र.)
५३५. श्रीमती उषा कुण्डले, कामठी, नागपुर (महा.)
५३६. श्री राजकुमार शं. पुरोहित, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महा.)
५३७. श्री अजित मोहन शर्मा, महावीरनगर, भोपाल (म.प्र.)
५३८. श्री विनोद कुमार जालान, समता कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
५३९. श्री कृष्ण नारायण शुक्ला, बोरसी विस्तार, दुर्ग (म.प्र.)
५४०. प्राचार्य, विवेकानन्द विद्यापीठ, भेल, भोपाल (म.प्र.)
५४१. श्री अशोक अग्रवाल, साहूकारा, पीलीभीत (उ.प्र.)
५४२. डॉ. शुकरत्न उपाध्याय, सरस्वती नगर, ग्वालियर (म.प्र.)
५४३. श्री प्रभाकर जयराम खड़से, नांदूरा, बुलढाणा (महा.)
५४४. श्री सूरज रतन मूंदड़ा, जवाहर नगर, रायपुर (म.प्र.)
५४५. श्री विनोद कुमार साहू, रामकृष्ण नगर, कोटा, रायपुर
५४६. श्री सन्तोष कुमार सोनी, बलौदा बजार, रायपुर (म.प्र.)
५४७. श्री मोहन आर. बंसल, जे.पी.रोड, आणन्द (गुजरात)
५४८. श्री दिलीप पांगे, स्टेशन रोड, कोल्हापुर (महा.)
५४९. श्री कुशिक बी. पण्ड्या, अलकापुरी, बड़ौदा (गुजरात)
५५०. श्री ओंकारनाथ मिश्र, पाथरडीह, धनबाद (बिहार)
५५१. श्री निर्मल खेमका, गुड़ियारी, रायपुर (म.प्र.)
५५२. श्री मंजीत सिंह, वकीलों की डिग्गी, श्रीगंगानगर (राज.)
५५३. श्री ताराचन्द शर्मा, विकास नगर, भिवानी (हरियाणा)
५५४. श्री भरत लाल वर्मा, धनसुली, बंगोली, रायपुर (म.प्र.)
५५५. श्री गोपीदास मन्दिर, पुरानी बस्ती, रायपुर (म.प्र.)
५५६. श्री रमेश कुमार, उमरकोट, नोवारानपुर (उड़ीसा)
५५७. श्री गुलाबराव पोटफोड़े, सेलगाँव, बैतुल (म.प्र.)
५५८. श्री सुमित कुमार मुंशी, सेमिनरी हिल्स, नागपुर (महा.)
५५९. श्रीमती द्रौपदी देवी चन्द्राकर, तर्रा, दुर्ग (म.प्र.)
५६०. माध्यमिक विद्यालय, झलमला, कवर्धा (म.प्र.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी रचनात्मक विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के अधिक-से अधिक चार-पाँच पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(५) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(६) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में यथोचित संशोधन करने का सम्पादक को पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एव विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।
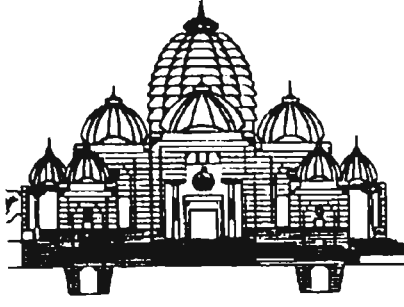
फोन : ४३३५१३२

रामकृष्ण मठ
१३१/१ए, विट्ठलवाड़ी रोड़,
पुणे - ४११ ०३०

भगवान श्रीरामकृष्णदेव का सार्वभौमिक मन्दिर

हार्दिक अपील

प्रिय मित्रो,

हमारे पुणे के मठ में निर्माणाधीन सार्वभौमिक मन्दिर के विषय में आप अवश्य ही अवगत होंगे। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ उप-महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज के हाथों १९९८ ई. की रामनवमी के दिन समारोहपूर्वक इसकी आधारशिला रखी गयी।

हमें यह सूचित करते हुए आनन्द हो रहा है कि नवम्बर १९९९ से इसका वास्तविक निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ और दिसम्बर तक इसके लिए आवश्यक खुदाई आदि का कार्य पूरा हो चुका था। आगे का कार्य भी अब पूर्ण गति से चल रहा है और हमें आशा है कि आगामी दो वर्षों में मन्दिर बनकर पूरा हो जायेगा। इस परियोजना की अनुमानित लागत लगभग रु. ३ करोड़ होगी।

मन्दिर के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्य इस प्रकार हैं -

मन्दिर का कुल आयतन	१३५ x ९३ x ८१ फीट
गर्भगृह	२४ x १७ x २१ फीट
अष्टभुजाकार प्रार्थनागृह	२४२२ वर्गफीट (४०० लोगों के बैठने हेतु)
	अष्टभुजाकार ५२ x ५२/ ऊँचाई १४ से २६ फीट तक
तलघर में सभागृह	२४२२ वर्गफीट (४०० लोगों के बैठने हेतु)
	अष्टभुजाकार ५२ x ५२/ ऊँचाई १२ से १४ फीट तक

हमारा हार्दिक अनुरोध है कि आप भी उदारतापूर्वक दान देकर इस पुनीत कार्य को यथाशीघ्र पूरा करने में सहयोग करें।

आपके शीघ्र उत्तर की आशा तथा शुभ कामनाओं सहित —

प्रभु की सेवा में
स्वामी भौमानन्द
अध्यक्ष

मठ के दिये गये दान आयकर अधिनियम, १९६१ की धारा ८० जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, पुणे' के नाम से बनाकर हमारे पते पर भेजे जाने पर हम उसे सधन्यवाद स्वीकार करेंगे।

विशेष सूचना : हमारा मठ विदेशी मुद्रा में भी दान स्वीकार करने हेतु भारत सरकार द्वारा पंजीकृत है।

नीति-शतकम्

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ।।८।।

अन्वय – यदा अहम् किञ्चित्-ज्ञः (सन्) गज इव मदान्धः समभवम् तदा – सर्वज्ञः अस्मि – इति मम मनः अवलिप्तम् (अभूत) । यदा बुधजन-सकाशात् किञ्चित् किञ्चित् अवगतम्, तदा – मूर्खः अस्मि – इति मे मदः ज्वर इव व्यपगतः ॥

भावार्थ – जव मुझे थोड़ा ज्ञान था, तो मैं हार्थी के समान मदान्ध हो गाया था, तव ऐसा सोचकर कि 'मैं सर्वज्ञ हूँ', मेरा मन अहंकार से परिपूर्ण हो गया था; फिर जब सच्चे ज्ञानियों के सान्निध्य से थोड़ा थोड़ा बोध हुआ, तव यह जानकर कि 'मैं अज्ञानी हूँ', मेरा अहंकार बुखार की तरह उतर गया ॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ।।९।।

अन्वय – कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं निरामिषं नरास्थि श्वा निरुपम-रसं प्रीत्या खादन् पार्श्वस्थं सुरपतिम् अपि विलोक्य न शङ्कते, हि क्षुद्रः जन्तुः परिग्रह-फल्गुतां न गणयति ॥

भावार्थ – कीड़ों के समूह से ढँकी, लार से गीली, दुर्गन्ध से परिपूर्ण, घृण्य और मांसरहित मनुष्य की हड्डी को भी अनुपम स्वाद लेते हुए परम प्रीति के साथ चबाता हुआ कुत्ता निकट स्थित इन्द्र को देखकर भी लज्जित नहीं होता । नीच प्राणी अपनी प्राप्त की हुई वस्तु की तुच्छता पर विचार नहीं करता ।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(पीलू-कहरवा)

ठाकुर मेरे प्राणपियारे,
तुम बिन कौन अकारण ही जो, भव-सन्ताप निवारे ।।

तुम ही धन-जन तुम ही जीवन, तुम ही व्याप रहे सब तन-मन,
तुम ही मम आशा के दीपक, सम्बल तुम्हीं सहारे ।।

तुम ही मात-पिता गुरु स्वामी, तुम ही सर्वस अन्तर्यामी,
मेरी चिर सूनी आँखों के, तुम ही हो ध्रुव तारे ।।

सुख में दुख में यश-अपयश में, रखना चाहे जैसे जग में,
पर न कभी बिसराना मुझको, रहना संग सदा रे ।।

– २ –

ठाकुर सुन लो अरज हमारी ।
अब तो तोड़ जगत के नाते, आया शरण तिहारी ।।

भवसागर ना कूल किनारा, डाँड चलाते थककर हारा,
अन्धकारमय अतल वारि में, पड़ा हुआ हूँ संकट भारी ।।

माया की है खान हृदय में, जीवन बीता भय-संशय में,
रहा भटकता यूँ ही जग में, सतत कुपथ संचारी ।।

काम-लोभ के मकर भयंकर, लगे रहे पीछे जीवन भर,
हार चुका लड़कर इनसे, सिमट चुकी है आशा सारी ।।

कर प्रयास कुछ हाथ न आया, आखिर शरण तुम्हारी आया,
कृपाबिन्दू का याचक हूँ मैं, आस लगाये दीन भिखारी ।।

– विदेह

पुनर्निर्माण के साधन

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था। यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने मे काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

सच्चे कर्मियों का प्रशिक्षण

सभी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ मनुष्यों के सच्चरित्रता पर टिकती हैं। कोई राष्ट्र इसलिये महान् और अच्छा नही होता कि उसकी संसद में यह या वह (कानून) पास कर दिया है, बल्कि इसलिये होता है कि उसके निवासी महान् तथा सच्चरित्र होते हैं। मनुष्य जगत् की सारी दौलत से बढ़कर मूल्यवान है।

इंग्लैण्ड जो कर सकता है, वह यही है कि वह स्वयं भारत को अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करने में सहायता करे। मेरी राय में, किसी ऐसे दूसरे की, जिसका हाथ भारत की गर्दन पर है, आज्ञा से होने वाली सारी उन्नति का कोई मूल्य नहीं है। उच्चतम कार्य भी उस समय केवल पतित ही होता है, जब उसे करने के लिये दासता का श्रम काम में लाया जाता है। ... पहले यह बतलाओ कि समाज के दोष दूर करने की आवश्यकता तुमको है या सरकार को? यदि तुमको आवश्यकता है, तो क्या सरकार उन्हें दूर करेगी या तुमको स्वयं ही उन्हें दूर करना होगा? भिखमंगों की माँगें कभी पूरी नही होती। माना कि सरकार तुमको तुम्हारी आवश्यकता की वस्तुएँ देने को एक बार राजी भी हो जाय, पर प्राप्त होने पर उन्हें सुरक्षित और संभालकर रखनेवाले मनुष्य कहाँ है? इसलिये पहले आदमी – 'मनुष्य' उत्पन्न करो।

जब आपके पास ऐसे मनुष्य होंगे, जो अपना सब कुछ देश के लिये होम कर देने के लिये तैयार हों, भीतर तक एकदम सच्चे, जब ऐसे मनुष्य उठेंगे, तो भारत प्रत्येक अर्थ में महान् हो जायेगा। ... भारत तभी जागेगा, जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओ को विसर्जित कर मन, वचन तथा कर्म से उन करोड़ों भारतीयों के कल्याण हेतु सचेष्ट होंगे, जो निरन्तर निर्धनता एवं अज्ञान के अगाध सागर में डूबते जा रहे हैं।

जो सच्चे हृदय से भारतीय कल्याण का व्रत ले सकें तथा उसे ही जो अपना एकमात्र कर्तव्य समझें – ऐसे युवकों के बीच कार्य करते रहो। उन्हें जाग्रत करो, संगठित करो तथा उनमें त्याग का मंत्र फूँक दो। यह कार्य पूर्णतया भारतीय युवकों पर ही निर्भर है। लाखों स्त्री-पुरुष पवित्रता के अग्निमंत्र से दीक्षित होकर, भगवान के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों, पतितों तथा पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर इस सम्पूर्ण भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, सामाजिक उत्थान के सन्देश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।

मैं भारत में कुछ ऐसे शिक्षालय स्थापित करना चाहता हूँ, जहाँ हमारे नवयुवक अपने शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा विदेशों में भी अपने धर्म का प्रचार कर सकें।

भारत को आध्यात्मिक भावों से प्लावित कर दो

जिन राजनीतिक पद्धतियों के लिये दूसरी ओर हम आज भारत में इतना प्रयत्न कर रहे हैं, वे यूरोप में सदियों से रही है और आजमाई भी जा चुकी हैं, परन्तु फिर भी वे पूरी तौर से सन्तोषजनक नहीं पायी गईं, उनमें भी कमियाँ हैं। राजनीति से सम्बन्धित यूरोप की संस्थाएँ, प्रणालियाँ तथा शासन-पद्धति की और भी अनेकानेक बातें समय समय पर बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध होती रही हैं और आज यूरोप की यह दशा है कि वह बेचैन है, यह नहीं जानता कि अब किस प्रणाली की शरण लें। मानव-जाति पर तलवार से शासन करने की चेष्टा करना निराशाजनक और बिल्कुल व्यर्थ है। तुम देखोगे कि वे केन्द्र, जहाँ से इस प्रकार के 'पाशविक बल द्वारा शासन' की चेष्टा आरम्भ होती है, सबसे पहले स्वयं ही डगमगाते हैं, उनका पतन होता है और अन्त में वे नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अगले पचास वर्ष में ही यह यूरोप, जो आज समस्त भौतिक शक्ति के विकास का केन्द्र बन बैठा है, यदि अपनी स्थिति को परिवर्तित करने का प्रयास नहीं करता, अपना आधार नहीं बदलता तथा आध्यात्मिकता को ही जीवनाधार नहीं बना लेता है, तो बरबाद हो जाएगा, धूल में मिल जायेगा।

सब बातों से यही प्रकट हो रहा है कि समाजवाद अथवा जनता द्वारा शासन का कोई स्वरूप, उसे आप चाहे जिस नाम से पुकारें, उभरता आ रहा है। लोग निश्चय ही यह चाहेंगे कि उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, वे कम काम करें, उनका शोषण न हो, युद्ध न हो और भोजन अधिक मिले। इस बात का हमारे पास क्या प्रमाण है कि यह अथवा कोई

दूसरी सभ्यता, जब तक कि वह धर्म पर, मनुष्य के भीतर की अच्छाई पर आधारित न हो, स्थायी होगी? विश्वास कीजिए कि धर्म इस समस्या की जड़ तक पहुँचता है। यदि वह ठीक है, तो सब ठीक है।

यह तो हमें मान ही लेना चाहिये कि कानून, सरकार, राजनीति ऐसी अवस्थाएँ हैं, जो किसी प्रकार अन्तिम नहीं हैं। उनसे परे एक ध्येय है, जहाँ कानून की आवश्यकता नहीं होती। ईसा ने देखा कि विधि-नियम उन्नति का मूल नहीं है, केवल नैतिकता और पवित्रता ही शक्ति हैं। आपके यहाँ एक कहावत है कि लोगों को संसद के कानून से पुण्यात्मा नहीं बनाया जा सकता। और इसीलिये धर्म राजनीति की अपेक्षा अधिक गहरे महत्व की वस्तु है, वह जड़ तक पहुँचता है और आचरण के मूल से सम्बन्ध रखता है।

मेरा यही दावा है कि हिन्दू समाज की उन्नति के लिये हिन्दू धर्म के विनाश की कोई आवश्यकता नहीं और यह बात नहीं कि समाज की वर्तमान दशा हिन्दू धर्म की प्राचीन रीति-नीतियों और आचार-अनुष्ठानों के समर्थन के कारण हुई, बल्कि ऐसा इसलिये हुआ कि धार्मिक तत्त्वों का सभी सामाजिक विषयों में अच्छी तरह उपयोग नहीं हुआ है। मैं इस कथन का प्रत्येक शब्द अपने प्राचीन शास्त्रों से प्रमाणित करने को तैयार हूँ। मैं यही शिक्षा दे रहा हूँ और हमें इसी को कार्यरूप में परिणत करने के लिये आजीवन चेष्टा करनी होगी। ... सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए है, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की शून्यता से दूर लाकर, कुछ सम्प्रदाय-विशेषों के हाथों से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा। ... भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति करने की चेष्टा करने के पहले धर्मप्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी अथवा राजनैतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय। ... इस दानशील देश में हमें पहले प्रकार के दान के लिये अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार के लिये साहसपूर्वक आगे बढ़ना होगा। और यह ज्ञान-प्रसार भारतवर्ष की सीमा में ही आबद्ध नहीं रहेगा। ... धर्म-प्रचार करने के बाद उसके साथ-ही-साथ लौकिक विद्या और अन्यान्य आवश्यक विद्याएँ आप ही आ जायेंगी। परन्तु यदि तुम लौकिक विद्या, बिना धर्म के ग्रहण करना चाहो, तो मैं तुमसे स्पष्ट कहे देता हूँ कि भारत में तुम्हारा ऐसा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा, वह लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त न कर सकेगा।

भविष्य के भारत-निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिसे युगों के उस महाचल पर खोदकर बनाना होगा, भारत की यह धार्मिक एकता ही है। यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिए कि हम हिन्दू – द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लोग, यथा शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि भिन्न भिन्न मतों के होते हुए भी आपस में कुछ सामान्य भाव भी रखते हैं, और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिये, अपनी जाति के हित के लिये हम इन तुच्छ भेदों और विवादों को त्याग दें। ... अपनी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों को एकत्र करना ही भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का एकमात्र उपाय है। जिनकी हृत्तंत्री एक ही आध्यात्मिक स्वर में बँधी है, उन सबके सम्मिलन से ही भारत में राष्ट्र का संगठन होगा।

हमारे देश के लिये इस समय आवश्यकता है, लोहे की तरह ठोस मांस-पेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की। आवश्यकता है इस तरह के दृढ़ इच्छाशक्ति-सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है ऐसी अदम्य इच्छाशक्ति की, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती है। यदि यह कार्य करने के लिये अथाह समुद्र के गर्भ में जाना पड़े, सदा हर प्रकार से मौत का सामना करना पड़े, तो भी हमें यह काम करना ही पड़ेगा। यही हमारे लिये परम आवश्यक है और इसका आरम्भ स्थापना तथा दृढ़ीकरण अद्वैतवाद अर्थात् सर्वात्मभाव के महान आदर्श को समझने तथा उसके साक्षात्कार से ही सम्भव है। ... कोई भी हमारी इस मातृभूमि का पुनरुत्थान अद्वैतवाद को व्यावहारिक और कारगर तरीके से कार्यरूप में परिणत किये बिना नहीं कर सकता। उपनिषद् के सत्य तुम्हारे सामने हैं। इनका अवलम्बन करो, इनकी उपलब्धि कर इन्हें कार्य में परिणत करो। बस देखोगे, भारत का उद्धार निश्चित है।

मैं कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिये। और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदों में ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त संसार को तेजस्वी बना सकती हैं। उनके द्वारा समस्त संसार पुनरुज्जीवित, सशक्त और बलसम्पन्न हो सकता है। समस्त जातियों को, सकल मतों को, भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के दुर्बल, दु:खी, पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों पर खड़े होकर मुक्त होने के लिये वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रही हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता – दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता – ये ही उपनिषदों के मूलमंत्र हैं।

उपनिषदों में यदि कोई एक ऐसा शब्द है, जो वज्र-वेग से अज्ञान-राशि के ऊपर पतित होता है, उसे बिल्कुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभी:' – निर्भयता। संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी हो, तो वह है 'निर्भीकता'। ... उठो, जागो – निर्बलता के इस सम्मोहन से जाग जाओ। वास्तव में

कोई भी दुर्बल नहीं है । आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है । इसलिए उठो, अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करो । तुम्हारे अन्दर जो भगवान हैं, उनकी सत्ता को ऊँचे स्वर में घोषित करो, उन्हें अस्वीकार मत करो । हमारे राष्ट्र के ऊपर घोर आलस्य, दुर्बलता और सम्मोहन छाया हुआ है । इसलिए हे आधुनिक हिन्दुओ! स्वयं को इस सम्मोहन से मुक्त करो । तुम अपने को और प्रत्येक व्यक्ति को उसके सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो और घोरतम मोह-निद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नींद से जगा दो । जब तुम्हारी जीवात्मा प्रबुद्ध होकर सक्रिय हो उठेगी, तब तुम स्वयं ही शक्ति का अनुभव करोगे, महिमा और महत्ता पाओगे, साधुता आएगी, पवित्रता भी आप ही चली आएगी – तात्पर्य यह कि जो भी अच्छे गुण हैं, वे सभी तुम्हारे भीतर आ जाएँगे ।

अपने आप से कहते रहो – मैं वह हूँ । ये शब्द तुम्हारे मन के कूड़े-करकट को भस्म कर देंगे, उससे ही तुम्हारे भीतर पहले से ही जो महाशक्ति निहित है, वह व्यक्त हो उठेगी, उससे ही तुम्हारे हृदय में जो अनन्त शक्ति सुप्त भाव से विद्यमान है, वह जाग जायेगी ।

सब सामाजिक उथल-पुथल करनेवाले, कम-से-कम उनके नेता यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके समस्त साम्यवादी सिद्धान्तो का आधार आध्यात्मिक होना चाहिये, और वह आध्यात्मिक आधार केवल वेदान्त मे है । ... चाहे जैसी बड़ी-से-बड़ी शक्ति का प्रयोग किया जाये, और चाहे कड़े-से-कड़े कायदे-कानून का आविष्कार ही क्यों न किया जाय, पर इससे किसी राष्ट्र की दशा बदली नही जा सकती । समाज या राष्ट्र की दुर्वृत्तियो को सद्वृत्तियों की ओर फेरने की शक्ति तो केवल आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति में ही है । जाओ, जाओ – उस प्राचीन समय के भाव लाओ, जब राष्ट्रीय शरीर में प्राण और जीवन था । तुम फिर से शक्तिमान बनो, उसी प्राचीन झरने का पानी पिओ – भारत को पुनर्जीवित करने का एकमात्र उपाय अब यही है ।

समाज सुधार – इसकी पद्धति

व्याख्यान-मंचो से हजारों भाषण दिये जा चुके हैं, हिन्दू जाति और हिन्दू सभ्यता के मस्तक पर कलंक और निन्दा की न जाने कितना बौछारे हो चुकी हैं, परन्तु इतने पर भी समाज का कोई वास्तविक कल्याण नहीं हुआ है । इसका क्या कारण है? कारण ढूँढ़ निकालना कोई कठिन काम नहीं है । यह निन्दावाद ही इसका कारण है । निन्दा करना किसी प्रकार भी दूसरे के हित का मार्ग नहीं है ।

एकदम अन्धविश्वासपूर्ण और अतार्किक प्रथाओं के विरुद्ध भी कुछ मत कहो, क्योंकि उनके द्वारा भी अतीत में हमारी जाति और देश का कुछ-न-कुछ उपकार अवश्य हुआ है । सर्वदा स्मरण रखना कि हमारी सामाजिक प्रथाओं के उद्देश्य इतने महान् हैं, जितने संसार के किसी और देश की प्रथाओं के नहीं हैं । ... जो प्रथाएँ इस समय निश्चित रूप से बुरी लग रही हैं, अतीत के युगों में वे ही जीवनप्रद थीं । अतएव अभिशाप द्वारा उनका बहिष्कार करना ठीक नहीं, बल्कि धन्यवाद देकर और कृतज्ञता दिखाते हुए ही उन्हें अलग करना उचित है; क्योंकि हमारी जाति की रक्षा के लिये एक समय उन्होंने भी प्रशंसनीय कार्य किया था ।

मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में । मैं अपने को ईश्वर की जगह प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश मढ़ने का साहस नहीं कर सकता कि 'तुम्हें इसी भाँति चलना होगा, दूसरी तरह नहीं' । मेरा आदर्श है, राष्ट्रीय मार्ग पर समाज की उन्नति, विस्तृति तथा विकास । हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति की साधना स्वयं करनी होती है; दूसरा कोई रास्ता नहीं है । और यही बात राष्ट्रों के लिये भी सही है । जब तक उच्चतर संस्थाएँ विकसित नहीं होतीं, पुरानी संस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न भयानक होगा । विकास सदैव क्रमिक होता है । जो जहाँ पर है, उसको वहीं से ऊपर उठाने का प्रयास करो ।

मुझे बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे अधिकांश समाज-सुधार आन्दोलन केवल पाश्चात्य कार्यप्रणाली के अविवेक-पूर्ण अनुकरण मात्र हैं । इस कार्य-प्रणाली से भारत का कोई उपकार होना सम्भव नही है । भारत के सभी समाज-सुधारकों ने पुरोहितों के अत्याचारों और अवनति का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ने की एक भयंकर भूल की और एक अभेद्य गढ़ को ढहाने का प्रयास किया । नतीजा क्या हुआ? असफलता ।

सुधार करने के लिये हमें चीज के भीतर, उसकी जड़ तक पहुँचना होता है । इसी को मैं आमूल सुधार कहता हूँ । आग को जड़ में लगाओ और उसे क्रमशः ऊपर उठने दो और एक अखण्ड भारतीय राष्ट्र संगठित करो । ... मेरी चिकित्सा-पद्धति यह है कि रोग को केवल दबाकर न रखा जाय, बल्कि उसे जड़ से नष्ट कर दिया जाय ।

सभी स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन अपने भीतर काम करनेवाली आध्यात्मिक शक्तियों के व्यक्त रूप होते हैं; और यदि ये बलशाली और सुव्यवस्थित हों, तो समाज अपने आप को उस तरह से ढाल लेता है । ... तथाकथित समाज-सुधार के कार्यों में हाथ मत डालना, क्योकि आध्यात्मिक सुधार के बिना कोई भी सुधार सम्भव नहीं है ।

निश्चय ही, हमें सामाजिक सुधारों की आवश्यकता है । समय समय पर महान् व्यक्ति प्रगति के नये विचारों का विकास करते हैं और राजा उन्हें कानून के द्वारा समर्थन देते हैं । पुराने समय में भारत में समाज सुधार इसी प्रकार किये गये हैं और

वर्तमान समय में ऐसे प्रगतिशील सुधार करने के लिये हमें पहले एक ऐसी अधिकारी सत्ता का निर्माण करना होगा। राजा अब नहीं रहे, अधिकार जनता के पास है। इसलिए हमें उस समय तक ठहरना होगा, जब तक कि लोग शिक्षित न हो जायँ, जब तक वे अपनी आवश्यकताओं को न समझने लगें और अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिये तैयार न हो जायँ और ऐसा करने की क्षमता न प्राप्त कर लें। अल्पमत का अत्याचार संसार में सबसे भयंकर अत्याचार है। इसलिये, उन आदर्श सुधारों पर, जो कभी व्यावहारिक नहीं होंगे, अपनी शक्ति व्यर्थ नष्ट करने के स्थान पर यह अच्छा होगा कि हम इस समस्या की जड़ तक पहुँचें और एक विधायिनी संस्था का निर्माण करें; तात्पर्य यह कि लोगों को शिक्षित करें, जिससे कि वे स्वयं अपनी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सकें। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक ये सब आदर्श सुधार केवल आदर्श ही रहेंगे। नये युग का विधान है कि जनता ही जनता का परित्राण करे; और इसे विशेषतया भारत में, जो अतीत में सदा राजाओं द्वारा शासित रहा है, कार्यान्वित करने में समय लगेगा।

यदि तुम सच्चे सुधारक होना चाहते हो, तो तीन बातों की आवश्यकता है। प्रथम तो यह कि तुम्हारा हृदय भावनाशील हो। क्या वास्तव में अपने भाइयों के लिये तुम्हारे प्राण छटपटा रहे हैं? क्या तुम सचमुच में अनुभव करते हो कि संसार में इतना क्लेश, इतना अज्ञान तथा इतना कुसंस्कार है? क्या सचमुच यह तुम्हारी धारणा है कि सब मनुष्य तुम्हारे भाई हैं? क्या यह भावना तुम्हारे रोम रोम में व्याप्त है? क्या यह तुम्हारे रक्त से मिल गयी है? क्या यह तुम्हारी प्रत्येक नस में फड़कती है और क्या तुम्हारे शरीर की प्रत्येक शिरा तथा तंतु में इसकी झंकार है? क्या तुम सहानुभूति के विचारों से भरे हुए हो? यदि तुम ऐसे हो, तो जान लो कि तुमने केवल प्रथम सीढ़ी पर ही पदार्पण किया है। दूसरी बात तुम्हें यह सोचनी चाहिये कि इन सबके लिये क्या तुमने कोई उपाय भी ढूँढ़ निकाला है; या नहीं? पुराने विचार भले ही अन्धविश्वास पर निर्भर हों, परन्तु इस अन्धविश्वास में भी स्वर्णमय सत्य के कण विद्यमान हैं। सब अनावश्यक बातों को छोड़कर केवल उस स्वर्णरूपी सत्य को पाने के लिये तुमने कोई उपाय सोचा है? और यदि तुमने वैसा कर लिया है, तो जान लो कि तुमने दूसरी सीढ़ी पर पैर रखा है। और एक चीज की आवश्यकता है – अटल अध्यवसाय। तुम्हारा असल अभिप्राय क्या है? क्या तुम्हें इस बात पर पूरा विश्वास है कि तुम्हें सम्पत्ति का प्रलोभन नहीं है, कीर्ति की लालसा नहीं है तथा अधिकार की आकांक्षा नहीं है? ❖ (क्रमशः) ❖

भगवान श्रीरामकृष्ण से

जितेन्द्र कुमार तिवारी

हे रामकृष्ण, हे परमहंस,
जन-गण-मन-दूषण करो ध्वंस ॥
है जन-जीवन में आज व्याप्त,
कलुषित विचार व काम-क्रोध ॥
परमार्थ भावना आज सुप्त,
है प्रबल सभी में स्वार्थ-बोध ॥
है दया-भाव भी आज लुप्त,
है निर्दयता का तीव्र दंश ॥१॥

आज का मनुज-हृदय है भ्रान्त,
भरा है भीतर झूठा मोह ॥
न्याय का पथिक आज दिग्भ्रान्त,
मचा है मन में ऊहापोह ॥
श्राप से ग्रस्त मनुजता आज,
दनुजता फैला यहाँ नृशंस ॥२॥

लोभ ने बन्द कर दिये नेत्र,
दिखाई दे न रही है राह ॥
ज्ञान-अंजन से प्रभुवर आप,
मिटावें अन्ध-तमस की दाह ॥
आप बनकर आवें श्रीकृष्ण,
मिटावें भ्रम का निर्दय कंस ॥३॥

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सतहत्तरवाँ प्रवचन – तृतीयांश)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हे धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

ब्रह्म और शक्ति

इसके बाद वे कहते हैं, "श्रीकृष्ण पुरुष हैं और राधा प्रकृति, चित्शक्ति, आद्याशक्ति हैं। राधा प्रकृति हैं – त्रिगुणमयी; इनके भीतर सत्व, रज और तम – तीन गुण हैं। जैसे प्याज का छिलका निकालते जाओ, पहले लाल और काला दोनों रंग का मिला हुआ हिस्सा निकलता है, फिर लाल निकलता रहता है फिर सफेद। वैष्णव शास्त्रों में लिखा है – कामराधा, प्रेमराधा, नित्यराधा। कामराधा चन्द्रावली है, प्रेमराधा श्रीमती। गोपाल को गोद में लिये हुए नित्यराधा को नन्द ने देखा था। यह चित्शक्ति और वेदान्त का ब्रह्म दोनों अभेद हैं।" इसके बाद वे थोड़ा और भी स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं, "सीता ने हनुमान से कहा था – वत्स, मैं ही एक रूप से राम हूँ और एक रूप से सीता बनी हुई हूँ।" तात्पर्य यह है कि जो एक रूप में पुरुष हुए हैं, वे ही अन्य रूप में प्रकृति भी हुए हैं। एक रूप में वे जगत्कारण हैं और दूसरे रूप में वे आद्याशक्ति हैं, जिनसे यह वैचित्र्यमय जगत् प्रस्फुटित हो उठा है। सारा जगत् शक्ति का इलाका है।

'उद्‌बोधन' मासिक में प्रकाशित एक लेख में इस विषय पर चर्चा करते हुए कहा गया था कि श्रीरामकृष्ण का अद्वैत अर्थात् काली-ब्रह्म की अभिन्नता शाक्ताद्वैत है। और वेदान्त का जो निर्गुण अद्वैत है, उससे यह पृथक् है। उसमें एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और उनकी शक्ति रूपी माया मिथ्या है। मिथ्या का अर्थ हुआ कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। शाक्तमत के अनुसार माया के अस्तित्व को उड़ाया नहीं जा सकता। इसमें कहते हैं कि माया है, परन्तु उसकी ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। यह विषय शब्दों का खेल प्रतीत होता है। जिन निर्गुण ब्रह्म को गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है, वे ईश्वर नही बल्कि ईश्वर से भिन्न हैं। ईश्वर जगत् के कारण हैं, इस प्रकार उनम जगत् का कर्तृत्व, नियन्तृत्व आदि है, परन्तु ब्रह्म मे यह सब नहीं है। समझाने के लिये हम लोग जगत् को पकड़कर उसके कारण तक पहुँचते हैं और उसी को ब्रह्म कहते हैं। यथा – "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति** – जिनसे इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई है, जिनके द्वारा समस्त प्राणी जीवित रहते हैं और अन्तत: जिनमें इन सबका लय हो जाता है, उन्हें विशेष रूप से जानने की इच्छा करो। वे ही ब्रह्म हैं।" (तैत्तिरीय. ३/१)

अब प्रश्न उठता है कि वह वस्तु परिवर्तनशील है या नहीं। जब हम लोग परिवर्तनशील जगत् को देखकर ब्रह्म को समझने का प्रयास करते हैं, तब परिवर्तन के परे स्थित उस वस्तु को पकड़ नहीं पाते। हम केवल इतना ही समझ पाते हैं कि इसके पीछे कोई अपरिवर्तनशील वस्तु के रहे बिना परिवर्तन होना सम्भव नहीं है। परन्तु वह वस्तु परिवर्तन के साथ युक्त नहीं है। ये सब सूक्ष्म विचार की बातें हैं, सामान्य व्यक्ति की बुद्धि इतनी दूर नहीं जाती। ठाकुर कहते हैं कि मन जब तक शुद्ध नहीं होता, तब तक उस वस्तु को प्रगट करना सम्भव नहीं है और मन के शुद्ध होने पर उसे प्रगट करने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि वह किसके सामने प्रगट करेगा? उस समय तो जगत् का बोध ही नहीं रह जाता।

संसार-त्याग क्या सम्भव है?

संसार-त्याग के प्रसंग में ठाकुर पण्डितजी से कहते हैं – नहीं, त्याग क्यों करना होगा? सभी चीजें उन्हीं की हैं – यही बोध लेकर संसार करने से यह बन्धन का कारण नहीं होता। क्या ऐसी कोई जगह है जो संसार के बाहर हो? जब तक 'मैं' बुद्धि रहती है, देह आदि में 'मेरी'-बुद्धि रहती है, तब तक किसी के लिये भी संसार त्यागना सम्भव नहीं। संसार त्यागने का अर्थ घर से निकल जाना मात्र नहीं है। इस देह को लेकर हम जहाँ कहीं भी जायेंगे, वहाँ देहरूपी संसार साथ रहेगा। अत: यदि कोई 'मेरा शरीर' – इस बोध को त्याग सके, तो फिर चिन्ता की कोई बात नहीं। वह संसार में भी रह सकता है और वन में भी। वह सर्वत्र ही निर्लिप्त रहेगा। देहबोध बनाये रखते हुए संसार-त्याग करने पर अहंकार ही बढ़ता है, सच्चा त्याग नहीं होता। इसीलिये ठाकुर ने कहीं भी केवल संसार-त्याग का निर्देश नहीं दिया है।

ज्ञान और भक्ति

इसके बाद वे कहते हैं, "और देखो, सिर्फ विचार करने से क्या होता है? उनके लिए व्याकुल होओ, उन्हें प्यार करना सीखो।" तात्पर्य यह कि विचार बौद्धिक स्तर की बात है।

मान लो हमने विचार किया, पर उसके बाद जिस सिद्धान्त पर पहुँचे, उसे क्या हम ग्रहण कर सकते है? यदि नहीं कर सके तो फिर उस विचार का मूल्य ही क्या हुआ? हमने यह विचार किया कि जगत् मिथ्या और अनित्य है, परन्तु सोलह आने मन संसार मे ही पड़ा रहा, संसार के प्रति आसक्ति पूर्ण मात्रा में बनी रही, तो विचार हमारे किस काम आया? सच्ची बात तो यह है कि इस तरह का विचार हमारे मन का एक तरह का खेल मात्र है, मन के शुद्ध हुए बिना उसमें सच्चा वैराग्य नहीं आयेगा, विचार हृदय तक नहीं पहुँचेगा। इसीलिये वे कहते है कि उनके लिये व्याकुल होओ। उन्हीं को एकमात्र सत् वस्तु जान लेने पर, व्यवहार मे भी ऐसा होना होगा कि मै एकमात्र उन्ही को चाहता हूँ, अन्य कुछ भी नहीं चाहता।

वैसे ठाकुर ने ज्ञान को निष्फल नहीं बताया। बस यही कहा कि साधारण शुष्क विचार निरर्थक है, क्योकि सच्चे ज्ञानी ज्ञान-विचार से जिस तत्त्व की अनुभूति करते हैं, उसकी निरानन्दमय नहीं, बल्कि आनन्दमय स्वरूप में ही उपलब्धि करते हैं। अत: ठाकुर यहाँ ज्ञान-विचार के नहीं, बल्कि बाह्य विचार के बारे में कह रहे हैं। उसी प्रकार बाह्य भक्ति जो निरी भावुकता के रूप में क्षणिक रूप से भगवान में तन्मयता या क्षणिक उच्छ्वास तो ला देती है, परन्तु हृदय में कोई स्थायी परिवर्तन नही ला पाती। उस भक्ति से कोई स्थायी फल नहीं होता है। अतएव बाह्य भक्ति तथा बाह्य ज्ञान – दोनों ही निरर्थक हैं। तथापि दोनों में पार्थक्य यह है कि थोड़े समय के लिये ही सही, भक्ति मन को सरस कर देती है।

इसके बाद उन्होंने कहा, "किसी एक भाव का आश्रय लेना पड़ता है।" वैष्णव-शास्त्रों में कथित पाँच भावो का उल्लेख करते हुए वे कहते है कि सामान्य साधक के लिये दासभाव अच्छा है। खूब उच्च श्रेणी का साधक हुए बिना अन्य भावों की गम्भीरतापूर्वक साधना नहीं होती। यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा भाव बड़ा है और कौन-सा छोटा। हनुमान दास्यभाव के साधक थे और सुदामा सख्यभाव के, परन्तु हनुमान बड़े थे या सुदामा – यह कहा नही जा सकता। किसी भी एक भाव को पकड़कर उसमें डूब जाना ही मूल उद्देश्य है। जिसका जो भाव है, उसके लिये वही उत्तम है। यह बात स्मरण रखनी होगी कि अपने भाव में निष्ठा न रहे, तो साधना में अग्रसर नहीं हुआ जा सकता।

संसारधर्म और भगवत्प्राप्ति का मार्ग

सींथी के पण्डित बीच बीच में ठाकुर के पास आया करते हैं। साधु-संग के प्रभाव से भीतर का वैराग्य उद्दीपित होता है, यह बताते हुए वे कह रहे हैं, "जब यहाँ आता हूँ, तब उस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाता है। इच्छा होती है कि संसार का त्याग करके कहीं चला जाऊँ।" ठाकुर तत्काल उत्तर देते हैं, "आप लोग मन में त्याग का भाव लाइये। संसार में अनासक्त होकर रहिये।" त्याग की इच्छा होते ही त्याग करके चले जाना सम्भव नहीं हो पाता, विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों के बन्धन हैं, जिन्हें बात बात में नहीं काटा जा सकता। इसीलिए ठाकुर गृहस्थों को भीतर का त्याग करने का उपदेश देते हैं। उनके इस प्रकार उपदेश देने का कारण यह है कि हम लोगों के मन में कई बार बहुत कुछ करने की इच्छा होती है, परन्तु सभी इच्छाओं को कार्यरूप में परिणत कर पाना सम्भव नहीं हो पाता। जो सम्भव नहीं है, उसके लिये प्रयास करने पर उल्टा फल होता है, क्योंकि कार्य भी सिद्ध नहीं होता और मन के भीतर एक ऐसा तीव्र असन्तोष भी रह जाता है, जो कल्याणकारी नहीं होता। इसी कारण जो कोई जो कुछ भी कर रहा है, उसमें श्रद्धासम्पन्न होने की आवश्यकता है।

जो लोग गृहस्थी में हैं, वैराग्य का जीवन देखकर और स्वयं को उसके लिये अनधिकारी समझकर बहुधा उनके मन में अशान्तिकर अवस्था उत्पन्न होती है। इससे उनके मन में यह विश्वास नहीं रह जाता कि गृहस्थ-आश्रम भी एक मार्ग है और इसके द्वारा भी भगवान की प्राप्ति हो सकती है। यह अवस्था बड़ी कष्टकर है, क्योंकि इसमें व्यक्ति संसार के प्रति श्रद्धा भी नहीं रख पाता और उसे छोड़ भी नहीं पाता; फिर ऐसी परिस्थिति साधना पथ में भी विघ्न डालती है। ठाकुर ऐसा नहीं चाहते थे। वे कहते – जो जिस पथ का अधिकारी है, उसका उसी पथ में श्रद्धा रहनी चाहिये।

यहाँ पर वे जो कहते हैं कि भीतर का त्याग करने से ही हो जायेगा, यह कोई समझौते की बात नहीं है। स्मरण रखना होगा कि साधना के मामले में उन्होंने कभी भी समझौता नहीं किया या किसी को मिथ्या आश्वासन नहीं दिया। वे जब कहते हैं कि गृहस्थी में रहने से होगा, तो उनकी इस बात को वेदवाक्य मानकर साधन-पथ में अग्रसर होना होगा। कभी कभी ठाकुर की बातों के विषय में किसी किसी के मन में संशय आता था, जैसा कि इसके पूर्व एक व्यक्ति ने ठाकुर के सामने कहा था – "महाशय, वे इस समय, दोनों ही करो, कह रहे हैं। एक दिन कहीं चुपचाप काट खाएँगे।" अर्थात् तब वे कहेंगे कि नहीं, गृहस्थी का त्याग करना पड़ेगा। ठाकुर की त्याग-वैराग्यमयी बातों को सुनने पर कई बार ऐसा लगता था कि वैराग्य ही सार वस्तु है; संसार तुच्छ है और इसे छोड़ना होगा। परन्तु ऐसा समझने पर ठाकुर की बातों से आंशिक सत्य ही लेना हो सकेगा। वे जब कहते हैं कि गृहस्थी में रहने से होगा, तो इस बात को दृढ़तापूर्वक मान लेना होगा और निर्लिप्त भाव से रहना होगा। अब निर्लिप्त भाव से रहना कठिन हो उठने पर लगता है कि गृहस्थी को छोड़ देना ही अच्छा रहेगा। परन्तु वह भी क्या सहज है!

गृहस्थी छोड़कर भिक्षाजीवी हो जाने से ही क्या धर्मजीवन पुष्ट होता है? संसार छोड़कर जाऊँगा, परन्तु संसार मन से नहीं निकलता, ऐसी अवस्था में संसार का त्याग करना और भी बुरा है – यह बात ठाकुर ने बारम्बार कही है । एक जगह वे कहते हैं – मन वासनाओं से ठसाठस भरा हुआ है और उसके ऊपर गेरुआ पहनना! अर्थात् मन को न रंगकर केवल वस्त्र को रंगना हुआ । शास्त्र के मतानुसार यह मिथ्याचार है ।

वैसे इसका तात्पर्य यह नही है कि जिन लोगों के मन से सब कुछ त्यक्त हो चुका है, वे ही गेरुआ पहनेंगे । वे लोग ऊपर से त्याग का पथ स्वीकार करके उसी को पकड़कर चलने का प्रयास कर रहे हैं । जो लोग आन्तरिक भाव से ऐसा प्रयास नहीं कर सकेगे, उनके लिये उस मार्ग में पाँव बढ़ाना उचित नहीं है । त्याग सभी को करना होगा, किसी को अन्दर तथा बाहर का करना पड़ता है और किसी को केवल अन्दर का करने से ही काम हो जाता है । भीतर का त्याग ही असल बात है, तथापि किसके लिये किसकी आवश्यकता है, यह व्यक्ति-विशेष के ऊपर निर्भर करता है । किसी एक को सर्वजनीन नियम के रूप में ग्रहण करने से काम नहीं होगा । उपदेश को सर्वदा अधिकारी के अनुसार ही होना चाहिए । यहाँ पर अधिकारी से तात्पर्य यह है कि जो संन्यास का अधिकारी है उसके लिये संन्यास धर्म और जो गार्हस्थ्य का अधिकारी है उसके लिये गार्हस्थ्य-धर्म । इनके बीच छोटे-बड़े का हिसाब करना उचित नही है, उचित तो यह सोचकर देखना है कि मेरे लिये इनमें से कौन-सा उपयोगी होगा । अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने कहा था –

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५/५

– ज्ञानी जिस मोक्ष की प्राप्ति करता है, कर्मयोगी भी उसी को प्राप्त होता है । जो ज्ञान और निष्काम कर्मयोग को एक ही फल देनेवाला समझते हैं, वे ही सच्चे द्रष्टा हैं ।

अर्जुन ने विमूढ़ होकर कहा था –

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। ३/२

कभी ज्ञान और कभी कर्म की प्रशंसा से अर्जुन का चित्त संशयापन्न हो गया है । उनके लिये कौन-सा पथ ग्रहणीय है और कौन-सा त्याज्य है, इसका स्पष्ट रूप से निर्देश करने के लिये वे भगवान से कहते है – मेरे लिये एक ऐसा पथ निश्चित करके बोल दो, जिससे मेरा कल्याण हो । अर्जुन स्वयं ही निर्णय नही ले पा रहे है । यही मुश्किल है । हमारे लिये भी कई बार निर्णय ले पाना कठिन हो जाता है । हमारे लिये क्या करणीय है, क्या उपयोगी है, यह हम लोग कई बार समझ नही पाते । इसीलिये हम किसी ऐसे व्यक्ति से उपदेश चाहते हैं जो शुद्ध दृष्टि हों और जिनकी दृष्टि में सत्य तथा असत्य स्पष्ट रूप से अलग अलग प्रतिभात हों । दवाइयाँ तरह तरह की हैं, कोई यदि पूछे कि कौन-सी दवा सबसे अच्छी है? तो इसका उत्तर देने के पहले यह जानना होगा कि उसकी किस रोगी के लिये आवश्यकता है, इसके बाद उसके लिये कौन-सी दवा अच्छी होगी इसका निर्देश दिया जा सकेगा । इसके लिये अनुभवी चिकित्सक के सलाह की आवश्यकता होती है । इसीलिये ठाकुर जब जिस भाव के बारे में बोलते हैं, तो उस पर मानो पूरा जोर देकर बोलते हैं । स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों में भी हम देखते हैं कि वे जब जिस भी विषय पर बोलते, तो लगता कि वही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है । जब ज्ञानयोग पर बोलते, तो लगता कि इसे छोड़ दूसरा कोई मार्ग नहीं है । फिर जब कर्मयोग के बारे में बोलते, तो उसी को सर्वाधिक श्रेष्ठ सिद्ध कर देते । कभी वे भक्तियोग की बात भी कहते और वहाँ भी दिखाते कि भक्ति ही सार है । इस कारण मनुष्य के मन में कभी कभी विभ्रान्ति उत्पन्न हो जाया करती थी । एक दिन स्वामीजी (विवेकानन्द) के शिष्य स्वामी शुद्धानन्द ने उनसे कहा – आप एक एक समय एक एक प्रकार का कहते हैं; मेरी समझ में नहीं आता कि आपका अन्तिम सिद्धान्त कौन-सा है । इस पर वे बोले – जब कभी इस तरह का सन्देह हो, तो मुझसे पूछ लेना. क्योंकि उपदेश व्यक्तिसापेक्ष हुआ करते हैं; ऐसा कोई भी उपदेश नहीं है, जो सभी के लिये श्रेष्ठ हो ।

ठाकुर की दृष्टि सर्वग्राही है, तथापि वे अपने शिष्यों को किसी किसी मार्ग का अनुसरण करने से मना किया करते थे । तंत्रशास्त्र में कथित वामाचार की प्रथाएँ समाज-विरोधी हैं । परन्तु इसी कारण वे पथ ही न हों, ऐसी बात ठाकुर ने नहीं कही । वे कहते है – तुम लोग उस पथ पर मत जाना; वह दूषित पथ है । जो पथ निन्दित तथा घृणित है, उसे भी ठाकुर ने पथ के रूप में ही समझा है । वे स्वयं उस पथ का अनुसरण न करने पर भी, जो लोग अनुसरण कर रहे हैं, उन्हें देखकर, उन लोगों के भीतर भी बड़े बड़े साधक हुए हैं, यह बात उन्होने स्वीकार की है । तो भी सबके लिये उन्होंने उस पथ को अनुसरणीय नहीं बताया है ।

ज्ञान-विचार के वास्तविक उद्देश्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं – नित्य-अनित्य विचारपूर्वक अनित्य को त्यागकर नित्य को ग्रहण करना चाहिए । ऐसा न करने पर जीवन में उस विचार की सार्थकता नहीं है । वे कहते हैं, "ज्ञान और विचार ये पुरुष है, इनकी पहुँच बस दरवाजे तक है । भक्ति स्त्री है, वह भीतर भी चली जाती है ।" अर्थात् ज्ञान बहिरंग साधन है और भक्ति अन्तरंग साधन । ज्ञानपथ भगवान के व्यक्तित्व को पार कर जाता है । और भक्तिपथ भगवान को व्यक्ति के रूप में लेकर भक्त को उनके साथ विविध भावों से लीला-विलास

कराता है । परन्तु एक भाव का आश्रय लेने पर अर्थात् भगवान के साथ एक सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर, मन को सहज ही उनमें लगाया जा सकता है । इसीलिए वे विभिन्न भावों की बात कहते हैं ।

इसके बाद के परिच्छेद में मास्टर महाशय ने कई विषयों का वर्णन किया है । ईशान मुखोपाध्याय आए और ठाकुर को प्रणाम करके बैठ गये । पुरश्चरण आदि शास्त्रोक्त कर्मों पर ईशान का बड़ा ही अनुराग था । वे कर्मयोगी थे । ठाकुर ने यहाँ कर्मयोग की जो व्याख्या की है, वह स्वामीजी या गीता के निष्काम कर्म से अलग है । जो लोग शास्त्र-निर्दिष्ट कर्मों का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करते हैं, यहाँ पर वे उन्हीं को कर्मयोगी कह रहे हैं । याग-यज्ञ आदि कर्म भी एक प्रकार के कर्मयोग हैं । फिर गीता मे कर्मयोग के रूप में याग-यज्ञ आदि नहीं, बल्कि निष्काम कर्मयोग की बात कही गयी है.। स्वामीजी ने भी ऐसा ही कहा है । ईशान का याग-यज्ञ, पुरश्चरण आदि में आग्रह है, इसीलिए ठाकुर यहाँ पर कहते हैं कि ईशान कर्मयोगी है ।

कुण्डलिनी शक्ति का जागरण और भक्तियोग

ठाकुर कहते हैं, "ज्ञान ज्ञान कहने ही से कुछ थोड़े ही होता है? ज्ञान के दो लक्षण हैं – पहला है अनुराग अर्थात् ईश्वर को प्यार करना । एक और लक्षण है – कुण्डलिनी शक्ति का जागना ।" ज्ञानी के लक्षण के विषय में कह रहे हैं – जिसकी ईश्वर के प्रति प्रेम है और जिसकी कुण्डलिनी शक्ति का जागरण हो गया है, वे ही ज्ञानी हैं । यहाँ पर ज्ञानी से तात्पर्य केवल वेदान्त पर विचार करनेवाले व्यक्ति से नहीं है, बल्कि जो भगवान को जानकर उनके प्रति अनुरक्त हुए हैं, वे ही ज्ञानी है । जो भगवान उनके आराध्य हैं, वे निर्गुण-निष्क्रिय हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते । ईश्वर चाहे जैसे भी हों, उन्हीं को सार वस्तु जानकर, जो संसार की अन्य सभी वस्तुओं की उपेक्षा करके भगवान में मन को लगाते हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी हैं । उनका एक लक्षण है कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होना । कुण्डलिनी शक्ति के जागरण को उन्होंने मन के भीतर एक प्रबल उद्दीपना की सृष्टि के रूप में समझाया है । हम लोगों के भीतर जो शक्ति है उसी के एक अत्यन्त सूक्ष्म या केन्द्रीभूत रूप को योगशास्त्र में कुण्डलिनी कहा गया है । वही कुण्डलिनी जब जाग उठती है, तब उसके परिणामस्वरूप तत्त्व की उपलब्धि हेतु एक प्रबल आवेग उत्पन्न होता है । यह शक्ति सामान्य लोगों के भीतर सुप्त अवस्था में है । भक्ति, ज्ञान अथवा योग के द्वारा इस शक्ति को जगाया जा सकता है । इसके जागने पर हमारे भीतर तत्त्व तक पहुँचने के लिये एक प्रबल हलचल उत्पन्न होती है और मन भगवन्मुखी हो जाता है । इसी को कुण्डलिनी शक्ति का जागरण कहते हैं ।

बहुत से साधारण लोग ध्यान करने बैठते ही सोचते हैं कि कुण्डलिनी जाग उठी है । वे सोचते हैं मानो साँप आदि जैसा कुछ नीचे से सर सर करते हुए ऊपर उठ रहा है । बहुत से लोग यही सब सोचते हुए मन में तरह तरह की भ्रान्तियों का पोषण करते हैं । वस्तुत: मनुष्य के मन में अलौकिक के प्रति इतना अधिक रुझान है कि उसमें जीवन के अन्य पहलुओं पर विचार करने का धैर्य या प्रयास नहीं रहता । इसका एक कारण यह है कि वह सोचता है कि अचानक ही कुछ हो जायेगा । इसीलिये वह इन सबकी ओर ध्यान देकर अपना ही नुकसान करता है । मन में ऐसी भ्रान्तियाँ न आए, इसी के लिये प्रयास करना उचित है । सर्वदा विचार करना होगा कि भगवान के लिए मेरे मन में कितनी व्याकुलता आई, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति मन का आकर्षण कितना कम हुआ और भगवान के विषय में मेरा मन कितना नि:संशय हुआ – ये ही विशेष रूप से चिन्तनीय विषय हैं । हम सभी के मन में भगवान के विषय में एक तरह का संशयपूर्ण भाव रहता है । हम जितना ही उनकी ओर अग्रसर होंगे, क्रमश: थोड़ा थोड़ा वह संशय दूर होकर हमारी धारणा स्पष्टतर होती जायेगी ।

अतएव कुण्डलिनी पर विचार करने से और कुछ नहीं केवल दिमाग ही खराब होगा । इसलिये प्रारम्भ से ही इस कौतुहल से मन को मुक्त रखना उचित है । कुल-कुण्डलिनी को जब जागना होगा तो वे स्वयं ही जाग जायेंगी और किसी को कुछ बताने की जरूरत नहीं होगी । कैसे उनके लिये मन व्याकुल हो, इसके लिये प्रयास करना ही असल बात है और ठाकुर बारम्बार यही बात कहते हैं । यहाँ पर वे कह रहे हैं, "कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर भाव, भक्ति और प्रेम – यह सब होता है । इसे ही भक्तियोग कहते हैं ।"

साधना और विभूतियाँ

इसके बाद वे कहते हैं, "कर्मयोग (धार्मिक अनुष्ठान) बड़ा कठिन है, इससे कुछ शक्ति होती है, विभूतियाँ मिलती हैं ।" इसका तात्पर्य यह है कि उन्होंने कर्मयोग पर ज्यादा बल नहीं दिया । यह बात ईशान के मनमाफिक नहीं हुई, इसीलिए वे हाजरा के पास चले गये । ठाकुर का भाव यह है कि यदि नियमपूर्वक आनुष्ठानिक जप, पुरश्चरण आदि करने की ओर मन जाता है और उसके परिणामस्वरूप यदि भक्तिलाभ होता है, तब तो वह बड़ा अच्छा है, नहीं तो इससे केवल विभूतियाँ ही प्राप्त होती हैं । विभूतियाँ अर्थात् अलौकिक शक्तियाँ जो साधन-मार्ग में बाधा के रूप में आ खड़ी होती हैं । इनके द्वारा साधक के मन में अहंकार आ जाता है, जिससे वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है । इसीलिए ठाकुर ने बारम्बार इन सिद्धियो के विषय में सावधान कर दिया है ।

❖ (क्रमश:) ❖
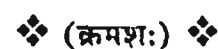
मानस-रोगों से मुक्ति (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन सैंतासवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

'मानस' के उत्तरकाण्ड में मानस-रोगों का जो वर्णन किया गया है, उसमें कई महत्वपूर्ण सूत्र दिये गये हैं। उनमें से एक सूत्र तो यह है कि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिनके मन में कोई रोग या दुर्बलता न हो। जब यह वाक्य कहा गया कि संसार में सभी रोगी हैं, तब सुननेवालों को ऐसी आशंका होना स्वाभाविक है कि महान् तेजस्वी मुनि, जिनके जीवन में साधना का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, वे तो निश्चित रूप से मानस-रोगों से मुक्त हो चुके होंगे। किन्तु यहाँ पर कागभुशुण्डिजी मानस-रोगों की भयानकता पर बल देने के लिये कहते हैं कि ऐसे महान् तपस्वी महापुरुषों के अन्तर्मन में भी मानस-रोग किसी-न-किसी रूप में छिपे रहते हैं; अन्तर इतना ही है कि साधारण व्यक्ति के जीवन में ये रोग या दोष निरन्तर सामने आते रहते हैं और श्रेष्ठ व्यक्तियों के जीवन में प्राय: वे दिखाई नहीं देते या कम दिखाई देते हैं। तुलना के रूप में इसे यूँ कहा गया कि बीमार पड़नेवाले दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक तो वे हैं जिन्हें हम बारम्बार रोगग्रस्त होते देखते हैं। इन्हें हम साधारण रोगी कह सकते हैं। फिर कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो बड़े ही स्वस्थ दिखाई देते हैं, पर ये लोग भी कभी-न-कभी रोग के चंगुल में फँस जाते हैं।

इसके लिये दृष्टान्त दिया गया कि मान लो एक किसान खेती करता है। वह खेत में जो बीज डालता है, उसी का फसल उसे मिलता है। अब जिसके अन्त:करण-रूपी खेत में निरन्तर वासना के ही बीज डाले जा रहे हों, ऐसे व्यक्तियों के जीवन में तो निरन्तर दुर्गुण-दुर्विचारों तथा बुराइयों की ही फसल होती है। लेकिन जो श्रेष्ठ जन हैं, महापुरुष हैं, उनकी तुलना हम ऐसे किसान से कर सकते हैं, जो खेत तैयार करके उसमें धान का बीज डाल देते हैं। वर्षा होने पर उनके खेत में धान के पौधे लहलहाने लगते हैं। लेकिन एक बड़ा विचित्र अनुभव यह होता है और यही सृष्टि की विलक्षणता है कि किसान यदि खेत में धान का बीज डाल दे, तो वहाँ धान के पौधे तो निकलते ही हैं, पर उसी के बगल में हरी हरी घास भी निकल आती है। किसान खेत में घास का बीज नहीं डालता, लेकिन जब वर्षा होती है, धान के पौधे निकलते हैं, तब घास का पौधा भी निकल आता है। वह भी धान के पौधे के साथ लहराने लगता है। तब किसान क्या करता है? खेत में पैठकर घास के एक एक पौधे को उखाड़कर बाहर कर देता है। देहात में इसे निराई कहते हैं। जो महापुरुष हैं, वे उस किसान की तरह सद्विचारों की खेती करते हैं। वे सद्विचारों के बीज अपने अन्त:करण में डालते हैं, निरन्तर उन सद्विचारों को अपने जीवन में क्रियान्वित करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

परन्तु इसके साथ एक बड़ी समस्या जुड़ी हुई है, जिसकी ओर 'मानस' में बारम्बार संकेत किया गया है। यह जो सृष्टि का निर्माण हुआ है, इसके मूल में त्रिधातु हैं। किसी भी धातु का जो धातुगत दोष है, वह उस धातु में बड़ी गहराई से जुड़ा हुआ होता है। दोष दो तरह के होते हैं। एक तो आगंतुक दोष और दूसरा धातुगत दोष। जैसे बर्तन में अगर बाहर से कोई गंदगी लग जाय, तो वह बहिरंग या आगंतुक दोष है और उसे दूर कर देने के लिये उस बर्तन को धो दिया जाता है। लेकिन कुछ दोष ऐसे होते हैं, जो बाहर से नहीं आते, बल्कि भीतर से जुड़े हुए होते हैं। जैसे लोटा पीतल का बना हुआ होता है। उसे धो देने पर वह स्वच्छ हो जाता है, पर उसका पीतल धातु ही कुछ इस प्रकार का है कि अगर उसमें कोई खट्टी वस्तु रख दें, तो उस स्वच्छ लोटे में भी कालिमा आ जाती है। अब इस दोष को दूर करने का क्या उपाय है? कुछ लोग उसमें कलई लगवा देते हैं, पर इस कलई के साथ भी तो यह समस्या जुड़ी हुई है कि वह भी कोई स्थाई उपाय नहीं है। उसके साथ निरन्तर यह भय जुड़ा रहता है कि कहीं कलई खुल न जाय। जब कलई हटेगी, तब धातु का दोष सामने आ जायेंगे।

इसी प्रकार हमारे जीवन में दो प्रकार से दोष आते हैं। एक तो वे, जिन्हें हम बाहर से अपने जीवन में लाते हैं। ये बहिरंग दोष हैं। दूसरे दोष हमें संस्कार-रूप में प्राप्त होते हैं। 'मानस' में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस सृष्टि का निर्माण किस धातु से हुआ है। इस सम्बन्ध में एक सूत्र दे दिया गया है –

कहहिं बेद इतिहास पुराना।
बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना ।। १/६/४

संसार में जितने व्यक्ति तथा पदार्थ बने हैं, सभी गुणों तथा दोषों को मिलाकर बने हैं। इसलिए रामायण में आप एक बड़ी व्यंग्यात्मक भाषा पाते हैं। साधारणतया जिस व्यक्ति में दोष

होता है, उसकी निन्दा की जाती है, परन्तु रामायण के कई प्रसंगो आपने देखा होगा कि जिस व्यक्ति के जीवन में दोष है, उसकी तो निन्दा की ही गई है, पर ब्रह्मा की तो सर्वत्र आलोचना की गई है। दोष किसी का है और निन्दा ब्रह्मा की होती है। 'कवितावली' में इसका एक बड़ा सरस चित्र प्रस्तुत किया गया है। श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताजी वन में जा रहे है। ग्राम-वधूटियाँ बड़ी भावपूर्ण दृष्टि से उनकी सुकुमारता को देखती है। वन के मार्ग का कष्ट और उनकी सुकुमारता को देखकर उनके हृदय में बड़ा दु:ख होता है और वे रुष्ट होकर कैकेयी की आलोचना करती हैं, क्योंकि इनके वन-गमन के मूल मे कैकेयी हैं। गोस्वामीजी ने उन ग्राम-वधुटियों के हृदय की भावनाओं का बड़ा मधुर चित्र प्रस्तुत किया है। गाँव की एक स्त्री दूसरी से कहती है –

रानी मैं जानी अयानी महा,
पवि-पाहनहू तें कठोर हियो है ।।

फिर महाराज दशरथ की भी कुछ आलोचना हुई –

राजहुँ काजु-अकाजु न जान्यो,
कह्यौ तिय को जेहिं काम कियो है ।
ऐसी मनोहर मूरति ए,
बिछुरैं कैसे प्रीतम लोगु जियो है ।
आंखिन में सखि राखिबे जोगु,
इन्हें किमि कै बनबास दियो है ।। २/२०

अरे, कैकेयी कितनी निष्ठुर है और महाराज दशरथ ने भी कैकेयी की बात मानकर कितनी बड़ी भूल की है। इन सुकुमार राजकुमारों को, इतनी सुकुमारी पुत्रवधू को इतना कष्ट दिया है। पर बड़ी विचित्र बात यह है कि कैकेयीजी तथा महाराज दशरथ की आलोचना तक बात रह जाती, तब तो ठीक था, पर गाँव की स्त्रियाँ इन्हें भुलाकर सहसा ब्रह्मा की आलोचना करने लगीं। वे कहने लगी कि इस घटना के पीछे ब्रह्मा का हाथ है। उन्होंने एक पद्धति से तर्क रखा। ब्रह्मा ने सृष्टि ही इस प्रकार की है कि उसमें गुण और दोष का मिश्रण है। श्रीभरत जैसे सन्त का जन्म किस माता के गर्भ से हुआ? भरतजी तो व्याकुल होकर यही कहते हैं –

हंसवंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ ।
जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ।। २/१६१

लेकिन माँ का चुनाव करने में तो व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। वह तो जिस गर्भ से उसका जन्म होना था, उसी से होता है। यहीं पर व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ परतंत्रता का, गुण के साथ दोष का यह अनोखा तत्त्व मिला हुआ है। इसे उन गाँव की स्त्रियों ने बड़ा भावनात्मक और रसमय रूप दिया। उन्होंने कहा – बस, बस, अब समझ में आ गया कि ये वन क्यों आए हैं। वहाँ पर गाँव की उन स्त्रियों को भी ब्रह्मा की याद आयी और वे ब्रह्मा के लिये बड़े विचित्र शब्द चुनती हैं –

वे गिनाने लगीं – चन्द्रमा को बनाया तो उसमें कालिमा जरूर डाल दिया। कल्पतरु को वृक्ष और सागर को खारा बना दिया। लगता है कि उसी ब्रह्मा ने इन राजकुमारों को वन में भेज दिया है –

निपट निरंकुस निठुर निसंकू ।
जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ।।
रूख कलपतरू सागरू खारा ।
तेहिं पठए बन राजकुमारा ।। २/११९/३-४

उसके बाद वे इसकी बड़ी भावनात्मक व्याख्या करती हैं कि वास्तव में हुआ क्या? तर्क उन्होंने यह दिया कि श्रीराम को देखकर तो यह लगता नहीं कि –

एक कहहिं ए सहज सुहाए ।
आपु प्रगट भए बिधि न बनाए ।। २/१२०/२

कुछ भावनामयी देवियों तथा सज्जनों ने तर्क दिया कि इन राजकुमारों का जन्म अपने आप हुआ है, इनको ब्रह्मा ने नहीं बनाया। पूछा जा सकता है कि आपको कैसे पता चला? तब बेचारे ब्रह्मा के लिये उन्होंने ऐसा तर्क दिया कि पढ़कर हँसी आए बिना नहीं रहती। गाँव की स्त्रियों ने कहा कि यदि ब्रह्मा ने बनाया होता, तो सुन्दरता में कुछ-न-कुछ कमी तो रह जाती। अभिप्राय यह है कि जिसमें कोई कमी न हो, ऐसी सृष्टि तो ब्रह्मा के लिये सम्भव ही नहीं है। वे जो भी बनायेंगे, उसमें कोई-न-कोई कमी अवश्य रहेगी। वे कहती हैं –

एक कहहिं ए सहज सुहाए ।
आपु प्रगट भए बिधि न बनाए ।। २/१२०/२
इन्हहि देखि बिधि मनु अनुमाना ।
पटतर जोग बनावै लागा ।। २/१२०/५

ब्रह्मा ने जब इनकी सुन्दरता देखी, तो उनके मन में ऐसी अभिलाषा हुई कि मैं भी ऐसा ही दिव्य शृंगारपूर्ण सृजन करके अपने कलंक को धो डालूँ कि मैंने जितनी भी वस्तुएँ बनाई हैं, वे सब अधूरी हैं, गुण-दोषमय हैं। मैं भी जब ऐसा निर्माण कर दूँगा, तब लोग कहेंगे कि नहीं, ब्रह्मा ने भी एक-दो ऐसे निर्माण किये हैं, जिसमें कोई दोष नहीं है।

कीन्ह बहुत श्रम एक न आए ।

ब्रह्मा ने बहुत प्रयत्न किया, लेकिन बेचारे करें भी तो क्या, उसके पास जो धातु है, वह तो गुण-दोष का मिश्रण है। उसके द्वारा वह जब भी किसी व्यक्ति या धातु का निर्माण करता है, तो उसमें धातुगत गुण-दोष रहता ही है, कोई-न-कोई दोष, कोई-न-कोई कमी रहती ही है। पहले तो ब्रह्मा ने बड़े उत्साह से प्रयत्न किया, पर जब नहीं बना पाये, तब उनके मन में श्रीराम के सौन्दर्य से ईर्ष्या हुई और उन्होंने सोचा कि अगर ये नगर में रहेंगे, तो नगरवासी आलोचना करेंगे।

नगरवासी आलोचक अधिक होते हैं। तुलना करेंगे कि ब्रह्मा इतना सुन्दर निर्माण नहीं कर सकते। तब ब्रह्मा ने क्या किया? ईर्ष्या के कारण उन्होंने सोचा कि इनको ऐसे वन में भेज दो, जहाँ इनकी सुन्दरता पर किसी की दृष्टि न जाय और न कोई हमारी कृतित्व की आलोचना करे –

इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा।
पटतर जोग बनावै लागा।।
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए।
तेहिं इरषा बन आनि दुराए।। २/१२०/५-६

इन प्रसंगों का मूल तात्पर्य यह है कि जिस मूल धातु से इस सृष्टि का निर्माण हुआ है, उसमें गुण और दोष का मिश्रण है, इसलिए इस सृष्टि में भी वह मूल धातुगत गुण-दोष है। यह सृष्टि गुण-दोषमय है और यही जीवन का भी सत्य है। जैसे जीवन में रोग भी है और औषधि भी। दोनों ही सत्य हैं, परन्तु ध्यान रहे कि रोग तथा औषधि सत्य होने पर भी जब व्यक्ति रोगी हो जाता है, तो वह डॉक्टर या वैद्य के पास जाता है। उस चिकित्सक की यह विशेषता होनी चाहिए कि उसे रोगों के लक्षणों और औषधि का, चिकित्सा-पद्धति का ठीक ठीक ज्ञान हो, अन्यथा औषधि के होते हुए भी व्यक्ति स्वस्थ नही हो सकेगा। ऐसे चिकित्सक हैं, जिन्हें रोग और औषधि का ज्ञान है, चिकित्सा-पद्धति का ज्ञान है। हम देखते हैं कि निरन्तर रोगी उनके पास रोग आते हैं और स्वस्थ हो जाते हैं और उन्हें धन्यवाद देते हुए लौटते हैं।

परन्तु जीवन का पूरा सत्य इतना ही तो नहीं है। रोग, औषधि और वैद्य के साथ साथ मृत्यु भी तो जीवन का एक महान् सत्य है। कोई चाहे कितना भी बड़ा चिकित्सक क्यों न हो, वह कितनी भी बढ़िया दवा क्यों न दे, क्या कभी ऐसा हो सकता है कि वह मृत्यु को संसार में पूरी तरह से रोक दे? इसका अभिप्राय है कि ये दोनों बातें जीवन में जुड़ी हुई हैं – रोग के साथ औषधि और जीवन के साथ मृत्यु। दोनों सत्य है और दोनो को स्वीकार करना है। यही सामंजस्य और समन्वय है और यही 'मानस' की मूल दृष्टि है। इस समन्वय को छोड़कर यदि हम किसी एक को ही माने और दूसरे को न माने, तो क्या परिणाम होगा? जैसे सृष्टि की नश्वरता या मृत्यु का प्रतिपादन हमारे शास्त्रों और ग्रन्थों में किया गया है, बार बार दुहराया गया है कि यह सृष्टि मिथ्या है, नाशवान है। इस पर सभी सन्तों-महात्माओं ने बहुत कुछ कहा है। पर यदि कोई व्यक्ति रोग होने पर किसी चिकित्सक के पास जाये और वैद्य उसे वेदान्त का, सृष्टि की नश्वरता का, शरीर की अनित्यता का उपदेश देने लगे, तब तो इस सिद्धान्त का बहुत बड़ा दुरुपयोग हुआ। वैराग्य भी जीवन का एक अंग है, उसे नकारने से काम नहीं चलेगा। व्यक्ति चाहे जितना नकारे, उसे स्वीकार तो करना ही पड़ेगा। लेकिन कब? वैद्य के पास जब रोगी आये, तो वैद्य का ध्यान शरीर की नश्वरता तथा जगत् की अनित्यता की ओर नहीं, अपितु रोग तथा दवा का जो सम्बन्ध है, उस ओर जाना चाहिये तथा उसे पूरे प्रयत्न से ऐसी औषधि देनी चाहिये, जिससे रोग नष्ट हो जाय। औषधि और चिकित्सा से यदि रोग दूर हो जाय, तो बिल्कुल ठीक है। पर जीवन का यह जो दूसरा पक्ष है, उसे इसके साथ जोड़ दिया गया और उसका अतिरेक हमारे देश में हुआ है। कई लोगों के जीवन में वह व्यतिरेक दिखाई देता है। यह दोषमयता या नश्वरता का सिद्धान्त हमारे जीवन में, समाज में अतिरेकवादी तब बन जाते हैं, जब उसका प्रयोग हम असमय करते हैं। हमारे एक परिचित ने अपना एक संस्मरण सुनाया। उन्होंने एक घर बनवाया और प्रसन्नता में संगीत का आयोजन किया। पर जो गायक आए थे, उन्होंने पद कौन-सा आरम्भ कर दिया? –

रे मन, दो दिन का यह मेला रहेगा।

और उसके साथ साथ उन्होंने यह भी गाया –

ठठरी का ठेला रहेगा।

तब गृहस्वामी ने कहा – बन्द कीजिए अपना यह संगीत। वैसे यह भी एक भजन है, पर यह भजन क्या इस समय गाने का है? विवाह के मण्डप में वर-वधू को देखकर, उसके सौन्दर्य की कोई ऐसी व्याख्या करने लगे कि यह तो हाड़-माँस का ढेर है, तो इससे बढ़कर भाषण का दुरुपयोग क्या होगा?

यह बात अपने स्थान पर बिल्कुल ठीक है, लेकिन कब? विचार तो करना ही पड़ता है। अब एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब डॉक्टर या वैद्य के द्वारा उपयुक्त औषधि देने के बाद भी रोगी स्वस्थ नहीं होता और उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसे अवसर पर मृतक के परिजनों को कोई यह कहकर समझावे कि चिकित्सक में जितनी क्षमता थी, उसने भरसक प्रयत्न किया, पर मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, उसे भला कौन रोक सकता है? यह शरीर तो नश्वर है – तो यह वाणी का उचित अवसर पर उचित प्रयोग है। इसका मूल तात्पर्य यह है कि जीवन में ये दोनों पक्ष हैं और दोनों अपने स्थान पर सत्य हैं। रोग भी सत्य है, तो औषधि भी सत्य है और स्वस्थता भी, पर इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही बड़ा सत्य है – यह शरीर नश्वर है, मृत्यु अपरिहार्य है। लेकिन इसका यह तात्पर्य तो नहीं है कि इस सत्य को कोई विवाह-मण्डप में उद्घाटित करे अथवा वैद्य रोगी से कहे। मुझे बड़ा आनन्द आया, जब स्वामीजी ने कहा कि इतने वर्षों से अनुरोध किया जाता रहा कि कथा के समय बच्चे न रोवें, पर उनका रोना बन्द नहीं हुआ। तो भाई, इसका बन्द होना सम्भव भी नहीं है। स्वामीजी प्रयत्न कर रहे हैं, चाहते हैं कि पूरी शान्ति आ जाये, किन्तु सृष्टि के साथ कुछ बातें जुड़ी हुई हैं, उसे मात्रा में कम करने की चेष्टा की जा

सकती है, किन्तु पूरी तरह से नहीं मिटाया जा सकता। आदर्श में तो व्यक्ति ऐसी कल्पना करता है कि पूरी सृष्टि और सभी व्यक्ति दोषों तथा बुराइयों से पूर्णतया मुक्त हों। प्रयत्न तो मनुष्य को यही लक्ष्य बनाकर करना चाहिये, पर इसके साथ ही जीवन के दूसरे पक्ष को भी हमारे शास्त्रों तथा विचारकों ने बार बार देखा है और हमें बताया है, जिसके बड़े सुन्दर और सार्थक दृष्टान्त रामायण में मिलते हैं कि सृष्टि अगर गुण और दोषों के मिश्रण से बनी हुई है, तो ऐसी स्थिति में हम बहिरंग दोषों को तो मिटाने में समर्थ हो सकते हैं, पर उसमें दोष के जो तत्त्व मूल रूप से विद्यमान है, वे तो कभी-न-कभी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रगट होते हुए दिखाई देंगे ही। इसलिए विश्व के इतिहास में जो बड़े बड़े व्यक्ति, यहाँ तक कि जिनका बर्णन महानतम रूपों में किया गया है, उनके चरित्र में भी कभी-न-कभी, कोई-न-कोई कमी दिखाई देती ही है। इसका मूल कारण यही है कि जैसे किसान खेत में घास के बीज बोता नहीं है, पर फिर भी खेत में घास के पौधे निकल आते हैं, ठीक इसी प्रकार से जीवन में जो सद्विचारों की खेती कर रहे हैं, उनके जीवन में भी कभी-न-कभी, कोई-न-कोई बुराई का अंकुर दिखाई देता है। अब बुद्धिमानी क्या है? एक किसान तो वह है जो खेत में घास उग जाने के बाद भी उसे बढ़ने देता है, जिसके कारण धान के पौधे कमजोर होते जा रहे हैं और दूसरा चतुर किसान वह है, जो उस घास के पौधों को उखाड़ कर खेत से बाहर कर देता है। भगवान लक्ष्मणजी को यही उपदेश देते हैं कि जो श्रेष्ठजन हैं, साधक हैं, उनमें भी इस चतुर किसान की वृत्ति होनी चाहिए। वह वृत्ति क्या है? –

कृषी निरावहिं चतुर किसाना। ४/१५(क)/८

उसे निराना कहते हैं। किसान खुरपी लेकर खेत में जाता है और धान के बगल में जो घास उग आई है, उसे उखाड़ फेंकता है। यहाँ पर यह सूत्र दिया गया है –

बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। ७/१२२(क)/४

श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन में भी बुराइयों के अंकुर निकल आते हैं। दो बातें हैं, एक तो श्रेष्ठ व्यक्ति वह है, जो अपनी ओर से बुराइयों का बीज नहीं बोता; जो अपनी ओर से घास की खेती कर रहे हैं, उनकी तो बात अलग है, पर जिसके जीवन में बुराइयाँ स्वयं निकल आती हैं, वे क्या करते हैं? निकल आने के बाद क्या उसे ज्यों-का-त्यों रहने देते हैं या उसे मिटाने की चेष्टा करते हैं? श्रेष्ठ व्यक्तियों के जीवन में ये ही दो विशेषताएँ दिखाई देती हैं – एक तो वे अपनी ओर से बुराई को जन्म नहीं देते और कभी बुराई का कोई संस्कार, कोई प्रवृत्ति उनके जीवन में जाग्रत हो जाय, तो उनके अन्त:करण में पश्चात्ताप और व्याकुलता उत्पन्न होती है। भगवान श्रीराघवेन्द्र लक्ष्मणजी को यही सूत्र देते हैं कि इन तीन वस्तुओं की खेती नहीं की जाती, लेकिन इन तीनों का निकल आना स्वाभाविक है, इसे काटकर फेंक देना चाहिए। वे तीन चीजें क्या हैं? –

कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।। ४/१५(क)/८

मोह, मद और मान – इनको भले ही किसी ने न बोया हो, परन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन में भी कभी मोह आ जाता है, कभी मद या मान की वृत्ति दीख जाती है। लेकिन अगले ही क्षण वह अपने विवेक के द्वारा उसे काटकर फेंक देता है। उसके जीवन-खेत में यदि घास रह भी जाती है, तो काफी अल्प मात्रा में।

रामायण में दूसरा सूत्र यह दिया गया और यह सूत्र बड़े प्रामाणिक रूप में प्रगट किया। इसका सबसे सुन्दर दृष्टान्त है भगवान शंकर और सती के सन्दर्भ में। वहाँ पर इन्हीं दोनों का सामंजस्य दिखाई देता है। आगे चलकर वर्णन किया गया कि मनुष्य के मन के रोगों को दूर करने के लिए क्या करना चाहिए? इसके लिये वहाँ पर यह कहा गया कि –

सदगुर बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी।। ७/१२२(क)/६-७

वैद्य चाहिए, दवा चाहिए, पथ्य चाहिए, संयम चाहिए। लेकिन इन उपायों का वर्णन करने के साथ साथ इसमें एक वाक्य जोड़ दिया गया। लगता तो ऐसा है जैसे इसकी कोई जरूरत नहीं है, लेकिन इसकी बहुत आवश्यकता है। पहले तो उपाय बताया – वैद्य चाहिए। वैद्य क्या है? कहते हैं – **सदगुर बैद**। जैसे शरीर के रोगों को जाननेवाला और उसको दूर करनेवाला वैद्य है, उसी तरह मन के रोगों को जाननेवाला और उसको दूर करनेवाला गुरु ही वैद्य है और दवा है – **रघुपति भगति सजीवन मूरी** – भगवान की भक्ति ही अमृतमयी जड़ी है। अनुपान के लिये कहा गया – **अनूपान श्रद्धा मति पूरी** – श्रद्धा अनुपान है। इस प्रकार से मन के रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है, किन्तु चेतावनी दे दी गयी, सावधान कर दिया गया। क्या? बोले –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। ७/१२२(क)/५

रामकृपा से ही सारे रोग दूर होते हैं। यह कहने की क्या आवश्यकता थी? रामकृपा के बिना क्या रोग दूर नहीं होगा?

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण और उनके उपदेश

डॉ. शिवदास

श्रीरामकृष्ण को उनके शिष्य 'ठाकुर' कहकर सम्बोधित किया करते थे और आज भी उनके भक्तजन इसी नाम से उनका उल्लेख करते हैं। वे सदैव भगवान के दिव्य प्रेम में उन्मत्त रहते थे। अपनी साधना के प्रारम्भिक दौर में वे कलकत्ते के निकट दक्षिणेश्वर मन्दिर में प्रतिष्ठित कालीमाता की पूजा-उपासना में तल्लीन रहते थे। जहाँ अन्य सभी व्यक्तियों की दृष्टि में जगदम्बा की मूर्ति पाषाण द्वारा निर्मित एक प्रतिमा मात्र थी, वहीं ठाकुर को स्पष्ट बोध होता था कि निराकार ब्रह्म ही माँ के विग्रह का भी आधार है। वे ऐसे उत्कट भाव के साथ माँ के विग्रह की पूजा-आराधना करते, मानो उन्हें साक्षात् देख रहे हों। उनका माँ के साथ वार्तालाप भी हुआ करता था!

श्रीरामकृष्ण को बोध होता था कि एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं। उनसे प्रथम भेंट के अवसर पर जब नरेन्द्रनाथ दत्त ने (जो कालान्तर में उनके प्रधान शिष्य स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए) उनसे पूछा कि क्या उन्होंने भगवान का दर्शन किया है, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि न केवल उन्होंने स्वयं उनका दर्शन किया है, अपितु वे नरेन्द्र को भी करा सकते हैं।

ठाकुर जगदम्बा के दर्शन तथा ब्रह्म-साक्षात्कार के परमानन्द में इतने तन्मय रहते कि उनको दिन भर में कई बार अकस्मात् अपने शरीर और परिवेश की सुध-बुध बिसर जाती थी और उनकी चेतना समाधि की अतिचेतन आह्लादयुक्त अवस्था में तल्लीन हो जाती थी। कभी कभी वे माँ की सजीव सत्ता को सम्बोधित करते हुए विलाप करने लगते थे।

यद्यपि ठाकुर का विधिवत् विवाह-संस्कार सारदामणि नामक पुण्यशीला बालिका के साथ सम्पन्न हुआ था, परन्तु उन्होंने उनके साथ कभी भी पति-पत्नी के भाव से व्यवहार नहीं किया। एक बार तो उन्होंने सारदामणि की जगदम्बा-भाव से पूजा-अर्चना भी की थी। अपनी इहलौकिक जीवन-लीला के अन्तिम वर्षों में अपने शिष्यों के कर्मफल-भार को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण को गले में भयंकर व्याधि हो गई और अन्तत: १८८८ ई. के १५ अगस्त को आधी रात के बाद वे महासमाधि में लीन हुए।

श्रीरामकृष्ण भारत की आध्यात्मिक सास्कृतिक परम्परा के सजीव आदर्श थे। अपनी अत्युत्कृष्ट आध्यात्मिक स्थिति तथा काम-काचन से परम विराग के कारण वे परमहंस के रूप में विख्यात हुए। उनकी मनोवृत्ति सार्वभौमिक थी और उनकी आध्यात्मिक सिद्धि सर्वग्राही थी। उनके दिव्य जीवन की अनुपम विशिष्टता यह थी कि उन्होंने हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों और ईसाई तथा इस्लाम धर्म के आध्यात्मिक अनुशासनों की साधना करके यह प्रतिपादित किया कि विभिन्न धर्मों का श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ अनुसरण करने पर एक सामान्य लक्ष्य अर्थात् आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि उपलब्ध होती है।

रानी रासमणि के जामाता तथा उनकी जमींदारी के प्रबन्धक मथुरा मोहन विश्वास श्रीरामकृष्ण के एक सच्चे भक्त थे। एक समय उनके द्वारा उच्चरित यह वाणी ठाकुर की यथार्थ आध्यात्मिक स्थिति का परिचायक है — बाबा, तुम्हारे भीतर ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; देह तो खोलमात्र है।

ठाकुर सहज दृष्टान्तों तथा कथाओं के माध्यम से अपनी अनुपम शैली में सत्य के विविध स्वरूपों का प्रतिपादन किया करते थे। उनके कतिपय उपदेश निम्नलिखित हैं —

उस व्यक्ति का जन्म निरर्थक है, जिसने मनुष्य-योनि का दुर्लभ सुयोग प्राप्त करके भी इहलौकिक जीवन में ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं किया।

जो व्यक्ति स्वाभाविक श्रद्धा और निष्कपट प्रेम के सहित भगवान की इच्छा के प्रति आत्मोत्सर्ग कर सकता है उसको ब्रह्म-साक्षात्कार सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

दो प्रकार के साधक ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं — एक तो वे जिनके मन लौकिक ज्ञान अर्थात् अन्य व्यक्तियों से उधार ली हुई विचार-शृखला से भारग्रस्त न हुए हों, और दूसरे वे जो सब धर्म-ग्रन्थों इत्यादि का अध्ययन करके ऐसा समझ गये हों कि उनको कुछ भी ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ।

जब तक ब्रह्मज्ञान की स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक भगवान को अपना स्वामी और स्वय को उनका अकिंचन दास मान लेना श्रेयस्कर है।

सिद्धि (अर्थात् ब्रह्मज्ञान या आत्म-साक्षात्कार) प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति से किसी भी प्रकार का अनुचित अथवा अनैतिक आचार-व्यवहार होना असम्भव हो जाता है। कुशल नर्तक के पाँव कभी गलत नहीं पड़ते।

रात में तुमको आकाश में असख्य तारे दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु सूर्योदय होने पर वे दिखाई नहीं देते। तो क्या तुम्हारा ऐसा कहना ठीक होगा कि दिन के समय आकाश में नक्षत्र

नहीं हैं? हे मानव! यदि तुम अपनी अज्ञानावस्था के कारण ईश्वर का साक्षात्कार या अनुभूति नहीं कर पाते, तो ऐसा मत कहो कि उनका अस्तित्व ही नहीं है।

क्या तुम ईश्वर को खोज रहे हो? तो मनुष्यों में उनके दर्शन करो। उनके देवत्व की अभिव्यक्ति किसी अन्य की अपेक्षा पवित्र-हृदय मानव में अधिक होती है। ऐसे महापुरुष को ढूँढ़ो, जो भगवान के प्रेम में सराबोर हों, जिनका अस्तित्व-चेष्टा-निवास भगवान में ही हो और जो भगवान की भक्ति में ही मतवाले हों। ऐसे देवपुरुष में ही भगवान अभिव्यक्त होते हैं।

जब कागज तेल से भीग जाता है, तो उस पर कुछ भी लिखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार जो जीवात्मा इन्द्रिय-भोग के तेल से दूषित हो गयी है, वह आध्यात्मिक श्रद्धा-भक्ति के लिए अयोग्य है। परन्तु जैसे तेल से भीगे हुए कागज पर खड़िया मिट्टी घिस देने के बाद उस पर फिर लिखा जा सकता है, वैसे ही यदि दूषित जीवात्मा पर वैराग्य का लेप लगा दिया जाय, तो वह पुन: आध्यात्मिक प्रगति में सक्षम हो जाता है।

यदि घड़े की पेंदी में एक छोटा-सा भी छिद्र हो जाय, तो उसमें भरा हुआ जल शनै: शनै: बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार साधक में यदि लेशमात्र भी सासारिकता आ जाय, तो उसका आध्यात्मिक पुरुषार्थ विफल हो जायेगा।

जैसे उषाकाल सूर्योदय का सन्देश देता है, वैसे ही सत्यनिष्ठा, नि:स्वार्थता, पवित्रता और साधुता साधक के अन्त:करण में भगवान के विराजमान होने के सूचक हैं।

केवल वही व्यक्ति स्वर्ग के राज्य में प्रवेश पा सकता है, जिसका मन और मुख एक हो। तात्पर्य यह कि निष्कपटता और सरलता वैकुण्ठ के राजमार्ग हैं।

जब तक कोई व्यक्ति शिशु के समान सरल-हृदय न बन जाय, तब तक उसकी पहुँच भगवान के पास नहीं हो सकती। सांसारिक विषयों का जो भी ज्ञान तुमने अर्जित किया है, उसमें अपने मिथ्या अभिमान को त्याग दो और समझ लो कि उच्चतर ज्ञान के क्षेत्र में वह व्यर्थ है। शिशु के समान सरल बन जाओ, तभी तुम सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

एक प्राचीन लोकोक्ति है कि जो सत्पुरुष ध्यान-साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेता है, उसके लिये मोक्ष-मार्ग सुगम हो जाता है, परन्तु किसी को भी ध्यान-साधना का सिद्ध तभी कहा जा सकता है, जब वह ध्यान के निमित्त आसनासीन होते ही दिव्य भावों से परिवेष्टित हो जाय और उसकी अन्तरात्मा का परमात्मा से समागम हो जाय।

उसी व्यक्ति को ध्यानसिद्ध कहा जा सकता है, जो ध्यान करते समय सभी बाह्य वस्तुओं तथा भावों से इतना अचेतन हो जाय कि यदि पक्षिवृंद उसके सिर के वालों में घोसला वना लें, तो भी उसे उसका भान न हो।

सूर्य का प्रकाश जहाँ कहीं भी पड़ता है, वहाँ एक समान ही पड़ता है, परन्तु केवल जल, दर्पण तथा पालिश किये हुए धातु जैसे चमकीले पदार्थ ही उसको पूर्णत: प्रतिबिम्बित कर पाते हैं। इसी प्रकार दिव्य कृपा सभी मनुष्यों के अन्त:करण पर समान और निष्पक्ष भाव से होती है, परन्तु पुण्यशील एव ब्रह्मज्ञ महापुरुषों के परिष्कृत तथा पवित्र हृदय ही उसको प्रतिफलित कर सकते हैं।

मृत्यु के लिये स्वय को तैयार करना अच्छा है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में व्यक्ति को भगवान का सतत स्मरण और एकान्त में उसका गुणगान करना चाहिए। हाथी को जब नहलाकर पीलखाने में बाँध दिया जाता है, तो वह फिर धूल-मिट्टी से मैला नहीं होता।

अनन्त ब्रह्म के महासागर में भक्ति के शीतल प्रभाव के द्वारा व्यक्ति को भगवान के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। ये रूप भगवान के प्रेमी भक्तों के लिये ही होते हैं। परन्तु जब ब्रह्मज्ञान के सूर्य का उदय होता है, तो रूप-हिम पिघल जाता है और वह फिर पूर्ववत् जल (अर्थात् निराकार परम सत्ता) बन जाता है — केवल जल, सर्वत्र जल, और कुछ नहीं।

शुद्ध ज्ञान और विशुद्ध प्रेम — दोनों एक ही प्रकार के दिव्य भाव हैं। शुद्ध ज्ञान उसी लक्ष्य की ओर ले जाता है, जो शुद्ध भक्ति द्वारा गम्य है।

सच कहता हूँ — यदि तुम्हारी प्रार्थना आन्तरिक होगी, तो मेरी जगदम्बा उसे अवश्य सुनेंगी, बशर्ते कि तुम धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो। यदि तुम उनके निराकार स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहते हो, तो उनसे बारम्बार प्रार्थना करो। यदि वे अनुग्रहपूर्वक तुम्हारी विनती स्वीकार कर लें, तो तुम समाधि की अतिचेतन अवस्था में उनके निराकार स्वरूप की अनुभूति कर सकोगे, क्योंकि जगदम्बा सर्वशक्तिमान हैं। यह अनुभूति ही ब्रह्मज्ञान है। मेरी जगदम्बा दूसरी कोई नहीं, अपितु वेदान्त द्वारा प्रतिपादित निर्गुण परम ब्रह्म ही हैं। मेरी आध्यात्मिक सिद्धि वेद और वेदान्त से भी परे की है।

चापलूसी

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

चापलूसी का आज के जमाने में बड़ा बोलबाला है। जो काम योग्यता के बल पर नहीं हो पाता, चापलूसी उसे आसान बना देती है। इसलिए आजकल सर्वत्र झुकाव चापलूसी की ओर दिखाई पड़ता है। विद्यार्थी जब देखता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होना उसके बूते की बात नहीं है, तो वह सम्बन्धित शिक्षक की चापलूसी करना शुरू कर देता है। जब मातहत देखता है कि पदोन्नति की योग्यता उसमें नहीं है, तो वह सम्बन्धित अधिकारी की चापलूसी में लग जाता है। मेरे एक परिचित हैं, जो कहते हैं कि आज शिक्षा में एक पाठ्यक्रम चापलूसी का भी होना चाहिए और उसे अनिवार्य रखा जाना चाहिए, क्योंकि आज चापलूसी किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ने का आवश्यक तत्र बन गयी है। और चूँकि सभी लोगों को चापलूसी करना नहीं आता, इसलिए वह पाठ्यक्रम में अनिवार्य बना दिये जाने से एक अभाव की पूर्ति हो सकेगी।

दुनिया में दो तरह के लोग ही चापलूसी करते देखे जाते हैं – एक तो वे हैं जिनका पेशा ही चापलूसी है और दूसरे वे हैं जो योग्यता के अभाव में इसका सहारा लेते हैं। पहली श्रेणी के अन्तर्गत वे आते हैं, जिन्हें हम 'भाट' या 'दरबारी' कहते हैं। इनका पेशा ही मालिक को खुश करना होता है और इसके लिए वे सब प्रकार की बातें कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे लोग हैं, जिनमें योग्यता नहीं होती और वे अपनी इस कमी को पूरा करने के लिए चापलूसी का अस्त्र पकड़ते हैं। इन्हें आजकल की भाषा में 'चमचा' भी कहते हैं। आजकल पहली श्रेणी के लोगों की सख्या घट रही है, जबकि दूसरी श्रेणी के लोग बेतहासा बढ़ रहे हैं, अपना स्वार्थ साधने के लिए चापलूसी का दामन थाम रहे हैं। चापलूसी और प्रशसा - इन दोनों में अन्तर है। वैसे चापलूसी में भी प्रशसा ही होती है, परन्तु चापलूस को प्रशसक नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कि कोई व्यक्ति अतिरंजित प्रशंसा करने का आदी हो, परन्तु इसी कारण यह आवश्यक नहीं कि वह चापलूस हो। प्रशसक तथा चापलूस में अन्तर यह है कि प्रशसक केवल प्रशसा-योग्य गुणों की ही प्रशंसा करता है, जबकि चापलूस मनुष्य की कमियों तथा दुर्गुणों को भी अपनी प्रशसा की चासनी में लपेट लिया करता है। चापलूस जानता है कि व्यक्ति में यह कमी है या उसमें यह दुर्गुण है, परन्तु अपने स्वार्थ को साधने के लिए वह उस कमी या दुर्गुण को उसकी अच्छाई के रूप में पेश करता है।

जब मैं किसी व्यक्ति की चारित्रिक कमी को जानता हूँ, तो मेरा एक तरीका यह हो सकता है कि मैं उसे नजरअन्दाज कर दूँ। पर चापलूस उसे नजरअन्दाज नहीं करता, बल्कि उस पर गुण का मुलम्मा लगाता हुआ उसे व्यक्ति के सामने पेश करता है। चापलूस की एक खासियत और होती है – वह सामने तो कमियों और दुर्गुणों को गुण के रूप में प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति की प्रशंसा करता है, परन्तु पीठ पीछे बुराई करने से भी नहीं चूकेगा। इसीलिए ऐसा चापलूस जब देखता है कि उसका स्वार्थ सध नहीं रहा है, तो वह उस व्यक्ति का शत्रु हो जाता है और उसके अहित-साधन की भी चेष्टा करता है।

यह चापलूसी, यह चाटुकारिता एक मानसिक रोग है। जो चापलूस है और जो चापलूसी-पसन्द है, वे दोनों ही मानसिक दृष्टि से रोगी होते हैं। ऐसे लोग वस्तुनिष्ठ फैसला नहीं ले पाते। चापलूस व्यक्ति स्वाभिमान से रहित होता है, उसकी बुद्धि ओछी होती है। आत्मप्रशंसा-प्रिय व्यक्ति चट चापलूसों के फन्दे में पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा अपना विनाश कर बैठता है। ऐसा व्यक्ति कान का कच्चा होता है। इससे बचने के लिए सबसे पहले व्यक्ति को यह भान होना चाहिए कि उसे आत्मप्रशसा का रोग लग गया है और यदि वह उस रोग से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे आत्मविश्लेषण करना सीखना होगा।

आत्मविश्लेषण चापलूसी की रामबाण दवा है। वह हमारा ध्यान अपनी कमियों की ओर आकर्षित करता है। आत्मविश्लेषण एक साफ दर्पण के समान है, जिसमें हम अपने सही रूप में दिखाई देते हैं। जो अपने को सही रूप में देख सकता है, वह कभी भी चापलूसी का शिकार नहीं हो सकता। फलस्वरूप, वह अन्याय-अविचार से बच जाता है और साथ ही धन की बरबादी से भी, क्योंकि चापलूस लोग तो आखिर भौतिक लाभ के लिए ही चापलूसी-पसन्द व्यक्ति को घेरे रहते हैं।

✧ ✧ ✧

धर्म है - 'हम' न कि 'मैं'

एलीनियर स्टॉर्क

(एलीनियर स्टार्क तथा उनके पति आर्ची - दोनों सेवानिवृत्त शिक्षक तथा रामकृष्ण वेदान्त सोसायटी, वोस्टन (अमेरिका) तथा रामकृष्ण वेदान्त सेन्टर, ग्रेट्ज (फ्रांस) के सदस्य हैं। एलीनियर १९८८ में प्रकाशित "The Gift . A New American Revolution' पुस्तक की लेखिका हैं। प्रस्तुत लेख संघ के अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के दिसम्बर १९९४ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से मठ के एक वरिष्ठ संन्यासी ने इसका हिन्दी रूपान्तरण किया है । - सं.)

स्कॉच प्रेसबिटेरियन मतवाले पिता और रोमन कैथोलिक चर्च में पली माँ की पुत्री होने के नाते बचपन से मैं धर्म के नाम पर एक ऐसी वस्तु से परिचित हुई, जो मेरे घर में अक्सर ही तर्क, प्रतिवाद तथा झगड़े का कारण वना करती थी। जव भी ऐसा होता, तब मैंने उससे उदासीन होना सीख लिया था। मेरी माँ मुझे एक रविवासरीय कैथोलिक स्कूल में भेजतीं, जहाँ मुझे लम्बे लबादे तथा पादुका पहने लोगों के सुन्दर चित्र बनाने पड़ते थे। एक रविवार को मेरे पिता वहाँ आ पहुँचे और वोले, 'यह सव वेवकूफी वहुत हो गई' और मुझे जवरन घर वापस ले चले। रास्ते भर मैं रोती-चिल्लाती रही, क्योंकि वहाँ मैं शान्त भाव से उन चित्रों को वनाने में तल्लीन थी। अव मैं समझ पा रही हूँ कि मेरे माता-पिता जीवन का कोई अर्थ खोज पाने के लिये व्यग्र थे, परन्तु दोनों की पृष्ठभूमि और स्वभाव की भिन्नता मार्ग में वाधक बने हुए थे। अन्त में जब मैंने कम उम्र में ही विवाह के लिये घर छोड़ा, उस समय मेरा किसी भी सिद्धान्त में, यहाँ तक कि स्वय पर भी विश्वास न था।

जैसा कि प्राय: सवके साथ होता है, एक अप्रत्याशित व्यस्तता में परिवार का पालन-पोषण करते करते वर्षों वीत गये, जीवन के प्रति विना चिन्तन या अर्थवाली एक दिनचर्या में, वस जिन्दगी कट रही थी। मेरी सवसे छोटी सन्तान जब हाईस्कूल में थी, तव मैंने यह सोचकर निकट के एक विश्वविद्यालय में प्रवेश ले लिया कि इससे मुझे शायद कोई ऐसा लक्ष्य मिल जाय, जिससे जीवन को कोई अर्थ मिल सके और मेरा आत्मविश्वास जाग सके। कुछ ही वर्षों में मैंने स्नातक और उसके वाद कला-इतिहास में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त कर ली। तदुपरान्त छह वर्षों तक मैंने स्थानीय जूनियर कॉलेज में अध्यापन किया। कुछ समय तक तो मुझे यह सोचकर ही अचरज हुआ करता था कि इतना सब करने की क्षमता मुझमें है! और अपने विषय को पढ़ाने में भी मुझे वड़ा आनन्द मिलता था। फिर भी जीवन में कोई ऐसा अभाव खटकता रहता था, जिसकी पूर्ति शैक्षणिक उपलब्धियों तथा अध्यापन से नहीं हो पा रही थी। मन में ऐसी कोई चुम्बकीय सुई नहीं थी, जो उत्तर (सही) दिशा का संकेत दे पाती।

एक दिन मैं अपनी एक सहेली के साथ बैठकर चाय पी रही थी। उसकी मेज पर एक छोटी-सी लाल पुस्तिका रखी थी, जिसका शीर्षक था – स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग और भक्तियोग। समय बिताने के उद्देश्य से मैंने उसे पलटना शुरू किया, रुचि धीरे धीरे बढ़ती गई, लगा कि प्रत्येक शब्द ही सच है – सजीव सत्य है। उसने मेरे मन को दिव्य अनुभूति से अभिभूत कर दिया। क्या यही धर्म है, इतना सरल और इतना महान्? अपने अध्ययन-अध्यापन के दौरान मुझे कभी ऐसी अन्तर्दृष्टि और प्रेरणा नहीं मिली थी। भीतर-ही-भीतर मुझे लगा कि यही तो मैं खोज रही थी।

मैंने एक भारतीय संन्यासी द्वारा परिचालित एक वेदान्त केन्द्र खोज निकाला। प्रत्येक रविवार मैंने वहाँ जाना शुरू किया। स्वामीजी को मैंने स्पष्ट रूप से बता दिया कि मैं नास्तिक हूँ और इस पर उनका उत्तर था, ''यह तो अच्छा है। प्रारम्भ करने के लिये यह अच्छी स्थिति है।'' शीघ्र ही मेरे पति भी इस उत्सुकता के साथ सम्मिलित हो गये कि आखिर मैंने ऐसा क्या पा लिया है? लोग कहते हैं कि धर्म सिखाया नहीं जा सकता, वह पकड़ लेता है। और यही मेरे पतिदेव के साथ हुआ। वे 'पकड़' लिये गये और मुझसे तथा मेरे द्वारा अनुभूत उस मुक्तिदायक अनुभूति से युक्त हो गये।

सार्वभौमिक सत्य के साथ हमारा पहला परिचय स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से हुआ। उन्होंने हमारी अवस्था के वारे में बिल्कुल सच कहा था और इसलिये जितना भी उनके सम्वन्ध में हम लोग पा सके, पढ़ते गये। कुछ वर्षों के बाद हमने स्वामीजी पर एक किताव भी लिखी – The Gift A New American Revolution.

इसी वीच हम लोग श्रीरामकृष्णदेव और माँ श्री सारदा देवी की जीवनी तथा उपदेशों से भी परिचित हुए। हम लोगों ने अपने घर में एक अलग कमरे को पूजाघर बनाकर नियमित प्रार्थना और ध्यान करना आरम्भ कर दिया।

ज्यों ज्यों दिन वीतते गये, हमने जीवन में एक परिवर्तन का अनुभव किया। हम लोग अधिक आशावान, अधिक एकाग्र और धर्म को अनुभव की वस्तु समझने लगे। स्वामी विवेकानन्द से हमने सीखा कि धर्म आस्था नहीं, क्रियान्वयन है; विश्वास नहीं, व्यवहार है; धारणा नहीं, आचरण है। अन्तिम रूप से महत्व इसी बात का है कि हम कैसा जीवन जी रहे हैं, न कि कौन-से नियम-कानून बनाते हैं।

भारत में हम लोग श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा और स्वामी विवेकानन्द से जुड़े स्थानों को देखने गये। सर्वत्र हम बारम्बार उनकी सरल तथा जाज्वल्यमान स्मृतियों से धन्य होते रहे। एक पाश्चात्यवासी के रूप में हम लोग प्राच्य से मिलित हुए थे, परन्तु फिर वैसे नहीं रह गये। हम इस अनुभूति में दृढ़ हो गये कि धर्म मनुष्य की मानसिक अवस्था है, अच्छाई ही लोगों में आपसी सद्भाव उत्पन्न कर सकती है और मन को बहिर्मुखी होने के बजाय अन्तर्मुखी करने से ही धर्म का सार समझ में आ सकता है तथा उसकी प्रेरक शक्ति प्रेम है।

हमने सीखा कि यथार्थ धर्म 'हम' है न कि 'मैं'; 'हमारा' न कि 'मेरा'। एक बार बेलूड़ मठ के एक वरिष्ठ सन्यासी आँखों के इलाज के लिये हमारे बोस्टन केन्द्र में आये हुए थे। एक दिन उन्होंने हमारे गृह-उद्यान के बारे में पूछा। मैंने कहा कि मेरे पति का उद्यान बड़ी अच्छी तरह से बढ़ रहा है। वे बोले, "क्या तुम इसे हमारा उद्यान नहीं समझती?" वर्षों बाद हम भारत आये और उन्हें बेलूड़ मठ में देखा। तब तक वे अन्धे-से हो गये थे, परन्तु हमारी आवाज उन्होंने सुनी और हमें पहचान कर बोले, "हम लोगों का उद्यान कैसा है?"

सम्पूर्ण जीवन के लिए – 'आश्रम-व्यवस्था'

जितेन्द्र वीर गुप्त

आज के युग में योजना का बहुत महत्व है। जनसंख्या-वृद्धि के प्रसग में प्रायः 'परिवार-नियोजन' की चर्चा हुआ करती है। परन्तु यह योजना बहुत छोटी तथा अधूरी है। एक ऐसी सम्पूर्ण जीवन-योजना की आवश्यकता है, जिसमें परिवार नियोजन भी समाहित हो। ऋषियों द्वारा भारत को दी गई सम्पूर्ण जीवन की योजना का नाम है – आश्रम व्यवस्था।

आज व्यक्ति दुखी है, चिन्तित है, भयग्रस्त है और अपने भविष्य के बारे में शंकित है। वास्तव में सारा जीवन ही लक्ष्यहीन है। कहाँ जाना है, इसका पता नहीं – सब कुछ अँधेरे में हैं। आगे दिखाई नहीं देता। जीवन में कोई उद्देश्य न होना ही इसका मूल कारण है। असफलता नहीं, अपितु छोटा विचार अथवा आदर्श पाप है – Not failure but low ideal is crime.

भारत में इसका चिन्तन हुआ है। जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति को क्या करना है या उससे क्या अपेक्षित है, इस पर गहराई से विचार हुआ है और इसी चिन्तन से 'आश्रम-व्यवस्था' का प्रादुर्भाव हुआ है।

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों या जीवन-लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों की योजना की गयी है। एक प्रकार से ये जीवन-यात्रा के चार पड़ाव हैं, जहाँ पहुँचने पर व्यक्ति को स्वय में वदलाव लाना पड़ता है। चलते चलते गाड़ी तो आगे वढ़ती है, परन्तु व्यक्ति गन्तव्य स्थान आने पर भी उतरने को तैयार नहीं होता। उसी में बैठा रहना चाहता है। जंक्सन आने पर व्यक्ति गाड़ी को बदलने में आनाकानी करता है, इसी कारण परिवार टूट रहे हैं और व्यक्ति दुखी है।

जीवन के पड़ाव रूपी ये चार आश्रम अलग अलग नहीं, बल्कि एक सर्वांगपूर्ण व्यवस्था है। हर आश्रम में व्यक्ति को आगामी आश्रम के लिए तैयार किया जाता है। **ब्रह्मचर्य आश्रम** में परिश्रम, पुरुषार्थ, साधना एव तपस्या है; क्योंकि जीवन में कुछ भी प्राप्त करने के लिये उद्यम की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण प्रात:काल उठकर अपने हाथों के दर्शन करने की अति श्रेष्ठ परम्परा रही है। इसी दर्शन अथवा पुरुषार्थ के द्वारा सरस्वती (विद्या), लक्ष्मी (धन) और साक्षात् गोविन्द मिलते हैं। अत: पुरुषार्थ करने का अभ्यास अर्थात् कठोर जीवन व्यतीत करने की आदत इस आश्रम की विशेपता है। यह आज नहीं हो रहा है, इसीलिये समस्याएँ खड़ी हो रही हैं। अत: इस काल में परिश्रम करने का अभ्यास अनिवार्य है। इसी पुरुपार्थ से भविष्य में समाज एवं राष्ट्र की समस्याएँ हल हो सकती हैं। कोरी नारेवाजी अथवा आन्दोलन के आधार पर देश प्रगति नहीं कर सकता। आज व्यक्ति जहाँ है, जो भी काम उसके जिम्मे है, चाहे वह खेत में किसान हो, मजदूर हो, विद्यार्थी हो या अन्य कोई काम करनेवाला हो, सभी को ईमानदारी से परिश्रम कर अपने पुरुपार्थ का परिचय देने की आवश्यकता है। यही वर्तमान काल के लिए सर्वोत्तम देशभक्ति है। दूसरे शब्दों में यह ज्ञान तथा धर्म अर्जित करने का समय है, गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने की पूर्व-तैयारी है।

गृहस्थ-आश्रम भोग का आश्रम है, अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थ अर्जन करने का समय है। अपने ऋषियों ने अर्थ और काम के महत्व को समझा है, उसको नकारा नहीं है, पर उसको धर्म और मोक्ष से जोड़ दिया है। इन दोनों पाटों के बीच में अर्थ और काम का प्रवाह रहना चाहिये, तभी यह

हितकर है, अन्यथा यह दुःखदायी सिद्ध होगा। अर्थात् धन कमाना ठीक है, परन्तु वह धर्म के अनुकूल हो। मनुष्य भोग करे, परन्तु संयम के साथ करे। बिना संयम का भोग दुःखद होता है। सयम के साथ किया हुआ भोग सुखदायी है। परन्तु साथ ही चेतावनी भी दी गयी है कि भोग का सुख क्षणिक है, अन्ततोगत्वा दुःखदायी है। जीवन का लक्ष्य तो मोक्षप्राप्ति है, उसकी सार्थकता जितना सुखभोग में है, उससे कहीं अधिक सुख-त्याग में है।

अब इस अर्थ और काम से मुक्ति का समय आ जाता है। जब परिवार अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, परिवार के सब लोग अपनी जिम्मेवारी वहन करना आरम्भ कर देते हैं। ऐसे Pià i[illegible]TY[illegible]æD ¥TÀ æĚi Jià — मोक्ष-प्राप्ति के लिये उद्योगी होना चाहिये। यहाँ से प्रारम्भ होता है - तीसरा अर्थात् वानप्रस्थ-आश्रम। यह विसर्जन का समय है। समाज से जो लिया है, वह समाज को देने का समय है। अपने अन्दर जो भी गुण-सम्पदा है, उसके माध्यम से समाज-सेवा का व्रत लेना होगा। अब उसका अपना परिवार बढ़ते हुए सम्पूर्ण समाज में परिणत हो गया है। अत: यह वानप्रस्थ आश्रम अपने 'स्व' के विस्तार का अवसर है। व्यक्ति पर मातृऋण, पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण आदि कई प्रकार के ऋण हैं। अब इन ऋणों से मुक्त होने का समय आ गया है।

संन्यास-आश्रम में प्रवेश करते हुए व्यक्ति स्वयं को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा को अपनाने के लिये प्रस्तुत करता है और फिर उसके अचराचर ब्रह्म में विलीन होने का समय आ जाता है। ऐसे समय में व्यक्ति सन्तोषपूर्वक आनन्द तथा सुख से — उस अव्यक्त से एकरूप हो जाता है, जहाँ से वह इस व्यक्त रूप में आया है —

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ गीता, २/२८

यह जीवन की एक सफल यात्रा है, जहाँ न कोई चिन्ता है, न कोई भय, केवल आनन्द और सुख की अनुभूति है। इस आश्रम-व्यवस्था के अनुसार जीवन-यापन ही आज के युग की आवश्यकता है। यही सुख और शान्ति का मार्ग है।

चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का हो या किसी भी जाति का, प्रत्येक हिन्दू मोक्ष का इच्छुक है। यह इस भूमि की उपज है। मोक्षप्राप्ति का यह प्रयत्न तो जन्म लेने के बाद बड़ा होने पर प्रारम्भ हो जाता है। विद्यार्थी जीवन में विद्या या ज्ञान का अर्जन करना ही मोक्ष का साधन है। इसी प्रकार गृहस्थ जीवन में अर्थ और काम के लिये होनेवाले पुरुषार्थ मोक्षप्राप्ति के विरोधी नहीं, बल्कि इसी के सोपान हैं। इसी प्रकार समाज तथा राष्ट्र की सेवा भी इस मोक्षप्राप्ति का एक साधन है और जहाँ अन्त होता है —

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्॥

अब समय आ गया है यह कहने का कि सारा चराचर मेरा है, क्योंकि अब इस चराचर में विलीन होना है। ऐसे समय में न कोई चिन्ता है, न कोई भय। उसके स्थान पर है केवल सन्तोष और समाधान।

प्रश्न है कि यह कैसे हो? त्याग एक सत्य है, जिसको व्यक्ति भूल रहा है, विस्मृत कर रहा है और इसी कारण हमें कष्ट उठाना पड़ रहा है। यह जीवन का कटु सत्य है, जिसको आज व्यक्ति अनदेखा कर रहा है। इसका अभ्यास चाहिये। सब छोड़कर जाना है, यह सत्य है; परन्तु आसक्ति के बिना अनासक्ति भी सम्भव नहीं है - उच्चतर आदर्शों के प्रति लगाव हमें स्वतः ही ओछे आदर्शों से दूर कर देता है। इसलिये कहा जाता है कि आप प्रभु से अपना मन लगा लें, तो ये बन्धन अपने-आप छूट जाएँगे।

परन्तु प्रभु तो दिखाई नहीं देता, परन्तु दिखाई देनेवाला समाज भी तो भगवान का ही रूप है। साधना के साथ साथ हम इस समाज की सेवा भी करें। इसे अपना परिवार मानकर इसकी सब प्रकार से सेवा करना भी एक तरह से प्रभु की पूजा है। फिर आगे बढ़कर — वसुधैव कुटुम्बकम् का भाव अपनाना होगा। आज व्यक्ति प्रभु से नाता जोड़कर भी स्वार्थी बनता हुआ दिखाई देता है; वह केवल अपनी ही चिन्ता में निमग्न रहता है, समाज की चिन्ता वह नहीं करता। अत: स्वामी विवेकानन्द जी ने संन्यासी को समाज का काम करने की प्रेरणा दी। आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च — वह इस कर्म को ही अपनी पूजा समझे, इसी भावना के साथ काम करे। जब हम केवल दया या सेवा-भाव से नहीं, पूजाभाव से काम करेंगे, तो हर कार्य ईश्वर की उपासना बन जाएगा। श्रीरामकृष्ण द्वारा कथित 'शिव-भाव से जीव-सेवा' के जीवन-दर्शन से व्यक्ति, परिवार, समाज और सारा विश्व सुखी बनेगा। इस प्रकार हमें श्रद्धा और विश्वास के साथ इस आश्रम-व्यवस्था को पुनः प्रतिष्ठित करना होगा।

हिमालय की गोद में अद्वैत आश्रम

कुलदीप उप्रेती

यूँ तो 'सकल भूमि गोपाल की' उक्ति के अनुसार सारी वसुधा ही पवित्र है। परन्तु इसी वसुन्धरा के किसी स्थान विशेष पर जब किसी अवतारी महापुरुष के दिव्य चरण पड़ जाते हैं, तो वह स्थान दिव्यता प्राप्तकर चैतन्य तीर्थस्वरूप हो जाता है। वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्दजी के पावन चरणों का संस्पर्श पाकर पवित्र हुआ हिमालय में स्थित मायावती का अद्वैत आश्रम भी ऐसा ही एक तीर्थस्थल है।

अनादिकाल से त्रिकालद्रष्टा ऋषि-मुनियों की तप:स्थली रही उत्तराखण्ड की पावन देवभूमि में टनकपुर रेलवे स्टेशन से ८८ कि.मी. दूर टनकपुर-तवाघाट राष्ट्रीय राजमार्ग में बसे लोहाघाट नगर से मात्र ९ कि.मी. की दूरी पर हरे-भरे वनों से आच्छादित मनोरम पर्वत-शृंखलाओं के मध्य मायावती का अद्वैत आश्रम स्थित है।

हिमालय की गोद में बसे इस क्षेत्र में प्रकृति ने मुक्त हस्त से अपना सौन्दर्य बिखेरा है। यहाँ पहुँचने पर देवात्मा हिमालय की शाश्वत हिममण्डित धवल पर्वत-मालाओं की मनोमुग्धकारी छटा, प्रकृति की अद्भुत दृश्यावली, पक्षियों का कलरव और भौरों की हृदयस्पर्शी अनुपम संगीत-धारा साधकों एवं प्रकृतिप्रेमियों को उस अनन्त सत्ता के ध्यान में डुबो देती है। यहाँ खिलखिलाती प्रकृति के मधुर हास्य का सहज सामीप्य और अनुभूतिसम्पन्न सन्तजनों का सान्निध्य वातावरण में ऐसी दिव्यता का सृजन करता है कि नास्तिकता से भरा मानव-मन भी उस चिदानन्द आत्मतत्त्व की सत्ता के प्रति नतमस्तक हुए बिना नहीं रहता।

समुद्र-तल से ६५०० फीट की ऊँचाई पर बसे मानव-कल्याण, विश्व-बन्धुत्व एवं शान्ति को समर्पित इस मायावती आश्रम की जन्मगाथा अत्यन्त रोचक है। स्वामी विवेकानन्द अपने विश्व-भ्रमण के दौरान इंग्लैण्ड में प्रवास के दौरान शारीरिक थकान का अनुभव कर रहे थे। अतः सेवियर दम्पत्ति और कुमारी हेनरियेटा मूलर आदि स्वामीजी के अतरग शिष्यों ने उनके लिए एक विश्राम-यात्रा का प्रस्ताव रखा। ३१ जुलाई, १८९६ ई. को स्वामीजी अपने इन तीन शिष्यों के साथ भ्रमण हेतु स्विटजरलैण्ड में स्थित ऑल्पस पर्वत-मालाओं की ओर निकल पड़े।

ऑल्प्स पहाड़ियों के मॉन ब्लान तथा लिटिल सेन्ट बर्नार्ड की उपत्यका में बसे ग्रामवासियों के जीवन और हिमालयवासियों की जीवन-पद्धति में स्वामीजी को काफी समानता नजर आयी। इस घटना ने उनकी हिमालय-सम्बन्धी सुखद स्मृतियों का पुनर्जागरण कर दिया; विवेकानन्द जी अत्यन्त उत्फुल्ल हुए और उनका हिमालय-प्रेम उमड़ पड़ा। यहीं पर सहसा स्वामीजी के मन-मस्तिष्क में हिमालय की गोद में एक ऐसे अध्यात्म-साधना-केन्द्र स्थापित करने की संकल्पना उभरी, जहाँ कर्म तथा साधना और प्राच्य तथा पाश्चात्य से सम्बन्धित भावों का समन्वय हो सके।

स्वामीजी ने अपने साथ आये शिष्यों के समक्ष अपनी इस परिकल्पना को व्यक्त करते हुए कहा था – "अहा! मेरे मन में हिमालय में एक मठ बनाने की अभिलाषा होती है, जहाँ मैं अपने जीवन-श्रम से निवृत्त होकर बाकी दिन ध्यान करते हुए बिता सकूँगा। वह कर्म और साधना का केन्द्र होगा, जहाँ मेरे भारतीय एवं पाश्चात्य-शिष्य एक साथ निवास करेंगे और मैं उन्हें कर्मियों के रूप में प्रशिक्षित करूँगा। मेरे भारतीय शिष्य वहाँ से वेदान्त-प्रचारक के रूप में पाश्चात्य देशों को जायेंगे और पाश्चात्य शिष्य अपना जीवन भारत की सेवा में लगा सकेंगे।"

युगद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने भारत-भ्रमण के पश्चात् अनुभव किया था कि भारत में अद्वैतवाद अध:पतित होकर शुद्ध बौद्धिक ऊहापोह में परिणत हो गया है। इसलिये वे अद्वैतवाद को उसकी आदि शुद्धता के साथ पुन: प्रतिष्ठित करना चाहते थे। स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि अद्वैत के पुनर्जीवन से ही सभी धर्मों को नवीन दिशा मिलेगी और सम्पूर्ण मानव-समाज में आपसी सद्भाव विकसित होगा। अपनी इसी विचारधारा को दृष्टिगत रखते हुए स्वामीजी ने वेदान्त की आदि स्फुरण-भूमि हिमालय में अद्वैत को समर्पित एक मठ की स्थापना करने का सकल्प लिया, जो बाद में मायावती के अद्वैत आश्रम के रूप में पूर्ण हुआ। मार्च १८९९ ई. में अपने एक पत्र द्वारा स्वामीजी ने इस अद्वैत आश्रम के सिद्धान्तों एव आदर्शों के बारे में लिखा है –

"जिसमें यह ब्रह्माण्ड अवस्थित है, जो इस ब्रह्माण्ड में विराजमान है, जो ब्रह्माण्ड में एकरूप है; जिसमें आत्मा स्थित है, जो आत्मा में स्थित है, जो मानव की आत्मा है; उसे अर्थात् ब्रह्माण्ड को अर्थात् अपनी आत्मा को जानना ही समस्त भय का विनाश करता है, क्लेशों का अन्त करता है

और अनन्त मुक्ति की उपलब्धि कराता है। जहाँ कहीं भी प्रेम का विस्तार हुआ है अथवा व्यक्ति या समुदाय के कल्याण में वृद्धि हुई है, वह इस शाश्वत सत्य 'समस्त प्राणियों में एकत्व' के ज्ञान, अनुभव तथा उपयोग के द्वारा ही हुई है। पराधीनता ही दु:ख है और स्वाधीनता ही सुख है। अद्वैत ही एकमात्र दर्शन है, जो मनुष्य को उसके अपनेपन की उपलब्धि कराता है, अपना स्वामी बना देता है, सारी पराधीनता तथा उससे सम्बन्धित अन्धविश्वास को उतार फेंकता है और इस प्रकार उसे कष्ट झेलने व कर्म करने में वीर बनाता है तथा अन्ततः चरम मुक्ति की उपलब्धि करा देता है।

''अब तक द्वैतवाद की दुर्बलताओं से पूर्णतया मुक्त रूप में इस उदात्त सत्य का प्रचार सम्भव नहीं हो सका है; हमारा विश्वास है कि इसी कारण यह मानव-जाति के लिये अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी नहीं हो सका।

''इस एक सत्य को व्यक्तियों के जीवन में और अधिक मुक्त एवं पूर्ण अवसर प्रदान कर मानव-समाज को उन्नत करने के उद्देश्य से हम इसकी आदि स्फुरण-भूमि हिमालय की बुलंदियों में इस अद्वैत आश्रम की स्थापना कर रहे हैं।

''आशा है कि यहाँ अद्वैत दर्शन को समस्त अन्ध-विश्वासों और दुर्बलताजनक प्रभावों से मुक्त रखा जा सकेगा। यहाँ एकमात्र शुद्ध एवं एकत्व के सिद्धान्त के अतिरिक्त न कुछ पढ़ाया जायेगा, और न ही व्यवहार में लाया जायेगा और अन्य सभी दर्शनों के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी यह अद्वैत आश्रम केवल अद्वैत के लिये ही समर्पित है।''

इधर स्वामी विवेकानन्द जी के प्रेरणा से उनके संन्यासी शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द जी के सक्रिय योगदान से १९ मार्च १८९९ ई. को स्वामीजी के दो अंग्रेज शिष्यों जे.एच. सेवियर तथा उनकी धर्मपत्नी सी.ई.सेवियर ने मायावती में अद्वैत आश्रम स्थापित किया। संयोग से इसी दौरान स्वामी विवेकानन्द जी अपनी यूरोपीय देशों के भ्रमण से ९ दिसम्बर १९०० ई. को बेलूड़ मठ पहुँचे; जहाँ उन्हें अपने प्रिय शिष्य कै. सेवियर की मृत्यु का दु:खद समाचार मिला। इस दु:खद घटना के पश्चात् स्वामीजी वहाँ अधिक समय तक नहीं रुक सके। २६ दिसम्बर १९०० ई. को अपनी शिष्या श्रीमती सेवियर से मिलने स्वामीजी बेलूड़ मठ से चल पड़े। ३ जनवरी १९०१ ई. को अत्यधिक हिमपात के बीच स्वामी शिवानन्द एवं स्वामी सारदानन्दजी के साथ स्वामी विवेकानन्द जी मायावती पहुँचे। यहाँ के नयनाभिराम सौन्दर्य और नगाधिराज देवात्मा हिमालय की मनोहारी दृश्यावली को निहारते हुए स्वामीजी ने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया। मायावती के इस अद्वैत आश्रम में स्वामीजी ने दो सप्ताह तक प्रवास किया और 'प्रबुद्ध भारत' के लिये तीन महत्वपूर्ण भावोत्तेजक प्रबन्ध भी लिखे।

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द जी के मायावती में हुए इस पदार्पण के बाद से ही यह स्थल अद्वैत तथा वेदान्त का विश्वविख्यात तीर्थस्थल बन गया है। स्वामीजी की इच्छानुसार इस आश्रम में कोई मन्दिर नहीं है, और न ही यहाँ किसी मूर्ति, चित्र अथवा प्रतीक की शास्त्रीय विधि से पूजा होती है। अन्य सभी मतों एवं धर्मों के प्रति आदर का भाव रखते हुए यह आश्रम स्वामीजी द्वारा निर्धारित किये गये सिद्धान्तों एवं आदर्शों के प्रति पूर्णतया समर्पित है।

मनोबुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

— मैं मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, नेत्र, आकाश, भूमि, अग्नि, वायु आदि नहीं, बल्कि अखण्ड सच्चिदानन्द-स्वरूप शिव हूँ, शिव हूँ।

विवेकानन्दजी के प्रिय 'निर्वाणाष्टकम्' के इस वेदान्त-सूत्र की भावना को रूपायित करता हुआ यह आश्रम विगत एक शताब्दी से अखिल विश्व में अद्वैत तथा वेदान्त-दर्शन के प्रचार-प्रसार के महान कार्य में लगा हुआ है।

बेलूड़ मठ से सम्बद्ध अद्वैत तथा वेदान्त की विद्यापीठ के रूप में विकसित हो चुकी इस तीर्थस्थली में देश-विदेश से अनगिनत ज्ञानपिपासु अपनी पिपासा की निवृत्ति हेतु आते हैं। अनेकों साधक-साधिकाएँ यहाँ ज्ञान से स्वयं आलोकित होकर विश्व के अन्य भू-भागों में अद्वैतज्ञान के आलोक को फैलाने के पुनीत कार्य में संलग्न हैं। मठ के अनेक विद्वान्-संन्यासी भी समय समय पर देश-विदेश में ज्ञान-प्रचार हेतु जाते रहते हैं। यह आश्रम विश्वविख्यात अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध-भारत' का सम्पादन कर, इस पत्रिका के द्वारा देश-देशान्तरों में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा को विगत् एक शताब्दी से भी अधिक काल से अविरल प्रवाहित करता आ रहा है। इसके अलावा महामनीषी स्वामी विवेकानन्द जी के क्रान्तिकारी युग-साहित्य के प्रकाशक होने का गौरव भी अद्वैत आश्रम को प्राप्त है।

विवेकानन्द जी द्वारा स्थापित अद्वैत आश्रम की इस साधना-स्थली में साधना के व्यावहारिक पहलू 'सेवा' को

उच्चतम स्थान दिया जाता है। 'शिव भाव से जीव सेवा' यहाँ का आदर्श है। विवेकानन्द जी के व्यावहारिक वेदान्त की अवधारणा को मायावती-धर्मार्थ-चिकित्सालय के माध्यम से मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। २५ शैय्याओं वाले इस चिकित्सा केन्द्र में अन्तरंग (इनडोर) एवं बहिरंग (आउटडोर) को मिलाकर प्रतिवर्ष लगभग ५०,००० रोगी चिकित्सा प्राप्त करते हैं। 'मानव-सेवा माधव-सेवा' के सिद्धान्त को व्यवहृत करते हुए इस आरोग्य-केन्द्र में मरीजों की ईश्वर भाव से सेवा करते हुए उन्हें नि:शुल्क औषधि वितरण एवं पौष्टिक आहार की समुचित व्यवस्था की जाती है। सेवा और साधना का यह समन्वय देश-विदेश से यहाँ आये हुए श्रद्धालुओं के लिये प्रेरणा-स्रोत बनता है। मायावती के प्राकृतिक सौन्दर्य एवं आध्यात्मिकता के विपुल वैभव में सम्पन्न इस आरोग्य केन्द्र का दिव्यता से भरा वातावरण त्रिविध तापों का शमन करता है। इस प्रकार अद्वैत आश्रम के इस अभिन्न अंग को यदि 'आध्यात्मिक-आरोग्य-केन्द्र' की उपाधि से विभूषित किया जाये, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अद्वैत वेदान्त के साधकों के लिये वेदान्त की आदि स्फुरण-भूमि हिमालय की गोद में अवस्थित मायावती के इस अद्वैत आश्रम की यात्रा का महत्व मानसरोवर की यात्रा से कम नहीं है। अद्वैत-वेदान्त के इस मानसरोवर में हर धर्म तथा जाति के नर-नारी पहुँचकर मत-मतान्तरों के भेदभावों को सर्वथा भूल जाते हैं। नगाधिराज हिमालय की उत्तुंगता यहाँ आनेवाले श्रद्धालुओं के मनों को सहिष्णुता-सम्पन्न श्रेष्ठ आध्यात्मिक भावों से भर देती हैं। भावनाशील अन्त:करणों में स्वामीजी के आह्वान – 'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत' – की अनुगूंज सुनाई पड़ती है, जो साधक कों आजीवन एक नई दिशा व प्रेरणा देकर साधना के उच्चतर सोपानों की ओर अग्रसर कराती हुई अन्तत: परम लक्ष्य की प्राप्ति करा देती है। यहाँ पहुँचकर मनवीणा के तारों से झकृत होने वाली स्वर लहरियाँ मानो कह उठती हैं –

हिमालय की गोद, अद्वैत की छाया।
वेदान्त के तीर्थ की अद्भुत माया॥

कर्म का मार्ग

पद्माक्षी उपाध्याय

लक्ष्य की प्राप्ति में ही जीवन की सम्पूर्णता है। जब तक मनुष्य अपने जीवन-काल में निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसका जीवन अपूर्ण-सा रहता है, मृत्यु-बिन्दु पर समाप्त होनेवाली उसकी जीवन-यात्रा निरर्थक प्रतीत होती है। और लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आवश्यकता होती है कर्म की, सत्यनिष्ठा-युक्त समर्पित भाव की, जो कर्म के मार्ग को सहज बनाते हैं।

कर्म जीवन की वास्तविकता को प्रत्यक्ष प्रगट करता है, जीवन को अर्थवत्ता, सार्थकता प्रदान करता है, जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक होता है। किसी मानव के कर्म उसके व्यक्तित्व का परिचायक होते हैं। कर्म के अभाव में जीवन-चक्र सरलता से नहीं घूम पाता, अनेक बाधाएँ मन को व्यथित करती हैं, जबकि निरन्तर कर्मरत रहने से बाधाएँ स्वय नगण्य रूप ले लेती हैं। कर्म के विषय में योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता, २/४७

– अर्थात् तेरा अधिकार मात्र कर्म करने में है, फल में कभी नहीं, इसलिये तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

जीवन का प्रत्येक क्षण कर्मरत रहने की मूक सलाह देता है, तो असफलताएँ कर्म को और बेहतर ढंग से करने की प्रेरणा देती हैं। जीवन तो पशु भी जीते हैं, परन्तु उनका कर्म केवल दैनिक आवश्यकता की क्रियाओं – यथा भोजन, काम तथा निद्रा तक ही सीमित रहता है। उनके प्रत्येक कर्म का महत्व समान होता है, जबकि मनुष्यों के कर्म तीन स्तर के होते हैं। सात्त्विक कर्म सर्वश्रेष्ठ होते हैं, दूसरे सामान्य कर्म राजसिक कहलाते हैं और अन्तिम तीसरे स्तर के निकृष्ट कोटि कर्म तामसिक प्रकार के होते हैं।

स्पष्टत: सरल रूप से मावन-समाज को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग है कर्मवीरों का, जिनका सिद्धान्त होता है – **'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'** – अर्थात् कार्य में सिद्धि प्राप्त करूँगा या शरीर को नष्ट कर दूँगा। इस प्रकार के वीरों को अपने पुरुषार्थ पर, अपने

आप पर विश्वास होता है। इसी विश्वास के सहारे वे जीवन-मार्ग में आनेवाले कण्टकों को हटाकर, असफलता को दुत्कार कर मुस्कुराते हुए कर्म में लीन रहकर प्रगति-पथ पर अग्रसर होते रहते हैं, कठिनाइयों का स्वागत करते हैं जिससे वे तनाव या कुण्ठा से ग्रस्त नहीं हो पाते।

दूसरा वर्ग है कर्मभीरु – कायर मनुष्यों का। यह वर्ग प्रथम वर्ग से सर्वथा विपरीत होता है। इनमें सघर्षों से लड़ने की क्षमता नहीं होती। छोटी छोटी कठिनाइयों से ये उद्वेलित हो जाते हैं। शीघ्र निराश हो धीरज खो बैठते हैं। दुनिया इन्हें नीरस लगने लगती है। प्रत्येक घटना को ये ईश्वरप्रदत्त या प्रारब्ध की देन मानते हैं। इनमें आत्म-विश्वास की कमी होती है, जिसके फलस्वरूप ये बहुधा असफल रहते हैं। ऐसे ही कर्मभीरु मनुष्यों को लोकभाषा में 'आलसी' कहा जाता है। कामों से जी-चुराना इनका स्वभाव होता है। सक्षेप में –

सिर धुन-धुन पछिताहीं,
कालहिं धर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाहिं।

– अर्थात् सिर धुन धुनकर पछताते हैं और समय, धर्म तथा ईश्वर पर झूठा आरोप लगाते हैं।

महाभारत के अनुशासन-पर्व में वर्णित है –

यथामृतपण्डित: कर्त्ताकुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्कृतं कर्म मानव प्रतिपद्यते॥

– अर्थात् इस जगत् में जैसे कर्म ही परस्पर एक-दूसरे को प्रेरित करते हैं, वैसे ही हम भी कर्मों से ही प्रवृत्त हुए हैं।

इसी पर्व में कर्म के सम्बन्ध में ही एक और श्लोक है –

यथाच्छाया तर्पोनित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्त्ता च सम्बद्धावात्कर्मणि॥

– अर्थात् जैसे धूप और छाया दोनों नित्य निरन्तर एक-दूसरे से मिले रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही सब कुछ पाता है।

बाइबिल का कहना है – "उनके हाथों के काम के अनुसार उन्हें बदला दे; उनके कामों का पलटा उन्हें दे।"

यह संसार कर्मभूमि है। इस कर्मभूमि में उतरनेवाले हर व्यक्ति को कर्मरत रहना ही है। आलसी लोग चमत्कार की आशा में निठल्ले पड़े रहते हैं और इसी प्रकार अपना जीवन गुजार देते हैं। मृत्यु के समीप आने पर उन्हें अपने निष्फल जीवन पर दु:ख होता है।

कर्म ऐसा होना चाहिये जो सार्थक हो, श्रेष्ठ हो, शुद्ध भावों से उत्पन्न हो, धर्म तथा सभ्यता-संस्कृति के अनुकूल हो। उसमें छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष न हो और वह काम, क्रोध, लोभ, हिंसा की छाया से भी दूर हो।

महाभारत कहता है – हम सब कर्म के अधीन हैं। ससार में कर्म ही मनुष्यों का पुत्र-पौत्र के समान अनुगमन करनेवाला है। कर्म ही सुख तथा दु:ख के सम्बन्ध का सूचक है।

जिस प्रकार सोये हुए शेर के मुख में हिरण अपने आप नहीं जाता, उसी प्रकार बिना कर्म के कोई मनोकामना पूर्ण नहीं होती –

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथै:।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा:॥

प्राचीन युग में स्वर्ग-नरक की प्रबल धारणा ने मानव-जाति को सत्कर्मों हेतु प्रेरणा दी। वर्तमान भौतिकवादी, स्वार्थ, लिप्सा, सुविधाभोगी युग में स्वर्ग-नरक की धारणा लुप्त होती जा रही है। इसलिये अच्छे-बुरे कर्म का महत्व एक जैसा हो गया है।

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार यह पृथ्वी ही कर्मभूमि है। अच्छा-बुरा सभी कर्म यहीं करना होता है। अत्यन्त शुभ और अत्यन्त अशुभ कर्मों का फल बहुत शीघ्र प्राप्त होता है। यह कर्मभूमि पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि एकमात्र यहीं पर उसके पूर्णत्व प्राप्त करने की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सम्भावना है। मनुष्य का जिन शक्तियों के साथ सम्पर्क होता है, उन सबमें कर्म की शक्ति सबसे प्रबल होती है, जो मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव डालती है।

श्रीमद्भागवत् के षष्ठम स्कन्ध चतुर्थ अध्याय में श्री भगवान् का कथन है – 'कर्म मेरी आकृति है।'

तात्पर्य यह कि मानव-जीवन को व्यर्थ न मानकर प्रत्येक कर्म पूर्ण मनोयोग, निष्ठा, सत्य तथा अहिंसा से अनुप्राणित और मन-वचन-कर्म से समर्पित होकर सम्पादित किये जाएँ, तभी यह जीवन सुखी, सफल तथा सार्थक होगा और जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होगी। आइये, हम यही प्रार्थना करें कि मन, वचन और देह द्वारा सम्पन्न होनेवाला हमारा प्रत्येक कर्म शुभ हो।

आचार्य रामानुज (५)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्यःप्रकाशित बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

१०. यामुनाचार्य का वैराग्य

आलवन्दार काफी काल तक राज्य करते रहे। वे विविध प्रकार के भौतिक सुखों में मुग्ध होकर नश्वर जीवन को अनश्वर जैसा समझने लगे। स्वभाव से आस्तिक होने के बावजूद उन्हें धर्म-कर्म के अनुष्ठान हेतु अधिक समय नहीं मिलता था। उनके शासन के दौरान प्रजा बड़े सुखपूर्वक दिन बिताती थी।

इस बीच उनके पितामह का देहावसान हुआ। पितामह का उनके प्रति अतिशय स्नेह था, अत: अपनी मानवी लीला समाप्त करने के पूर्व उन्होंने राम मिश्र या मनक्कल नम्बी नामक अपने प्रधान शिष्य से कहा, "देखना, यामुनाचार्य कहीं विषय-भोग में रत होकर अपना कर्तव्य न भूल जाय। मैं उसका भार तुम पर सौंपता हूँ।" यह कहकर वे स्वोपार्जित पुण्यलोक चले गये।

आलवन्दार की आयु क्रमश: पच्चीस वर्ष की हुई। उसी समय यतिवर नम्बी अपने गुरु के आदेशानुसार उनका दर्शन करने के लिये राजद्वार पर उपस्थित हुए। परन्तु राजद्वार पर सामन्तों के वाहन, सेना का जमघट तथा राज्य के सम्भ्रान्त लोगों को भी काफी विलम्ब से राजभवन में प्रवेश की अनुमति पाते देखकर और अपने को सामान्य वेशधारी संन्यासी जानकर, उन्होंने सिंहद्वार से राजभवन में प्रवेश पाने की आशा बिल्कुल ही त्याग दी। उन्होंने सोचा कि भले ही द्वारपालगण उन्हें भीतर जाने दें, तो भी सामन्तों तथा नगर के सम्भ्रान्त लोगों से घिरे और निरन्तर बहुविध राजकार्यों में व्यस्त महाराज आलवन्दार को उनके साथ वार्तालाप करने का अवसर नही मिल सकेगा। अतएव वे उनसे मिलने का कोई दूसरा उपाय सोचने लगे।

'तुडुवलइ' नामक एक प्रकार का शाक बुद्धिवर्धक होने के कारण यतिगण को अतिशय प्रिय है। उसे ग्रहण करने से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। उन्होंने वही शाक एकत्र किया तथा राजभवन के पिछले द्वार पर जाकर प्रधान रसोइये से मिलकर उससे अनुनयपूर्वक बोले, "भाई, नारायण तुम्हारा मंगल करें; तुम कृपा करके यह सत्त्वबुद्धि-वर्धनकारी शाक हर रोज पकाकर हमारे परम धार्मिक राजा को भोजन में देना। इससे वे दीर्घायु होंगे तथा उनकी बुद्धिमत्ता दिनों-दिन और भी बढ़ेगी। मैं नित्य यह शाक तुम्हारे पास ला दिया करूँगा।" रसोइया धर्मशील था और उक्त शाक के महागुण से परिचित था। अत: अतिशय प्रीति के साथ उसने उसे ग्रहण किया और प्रतिदिन उसे पकाकर राजा को खिलाने का वचन दिया।

महात्मा नम्बी इसी प्रकार कम-से-कम दो महीने तक वह शाक प्रतिदिन जुटाते रहे; रसोइया भी उस शाक के बहुविध व्यंजन राजा के भोजनपात्र में सजा देता। आलवन्दार बड़ी प्रीति के साथ उस शाक के साथ भोजन करते। नम्बी ने यह बात सुनी। एक दिन उन्होंने जान-बूझकर शाक लाना बन्द कर दिया। उसी दिन राजा ने व्यंजनों में उस शाक को न देखकर रसोइये से पूछा, "आज तुमने 'तुडुवलइ' का शाक नहीं पकाया?" इस पर उसने उत्तर दिया, "जो साधु प्रतिदिन उसे ला दिया करते थे, आज वे लेकर नहीं आये; इसीलिये व्यंजन नहीं बन सका।" साधु का उल्लेख सुनकर उन्होंने पूछा, "वे साधु कौन हैं? क्या मूल्य देकर तुम उसे उनसे खरीदते हो?" रसोइये ने उत्तर दिया, "महाराज, मैं उन साधु का नाम-धाम आदि कुछ नहीं जानता। वे धन आदि कुछ नहीं लेते। आपके ऊपर उनकी अतिशय प्रीति है और भक्तिवश वे प्रतिदिन स्वेच्छया कहीं से उसे संग्रह कर लाते हैं। सत्त्व तथा आयु में वृद्धि करना उस शाक का गुण है। आपकी आयुवृद्धि की कामना से वे प्रतिदिन वह शाक लाकर आपके भोजनार्थ मुझे देते हैं। परन्तु न जाने क्यों, आज वे आये नहीं।" यह सुनकर राजा थोड़े विचारमग्न हुए और फिर रसोइये से बोले, "कल यदि शाक लेकर पुन: आएँ, तो उन्हें सादर मेरे पास ले आना।" रसोइया "जो आज्ञा" कहकर अपने घर चला गया।

अगले दिन महात्मा नम्बी के शाक ले आने पर रसोइये ने उनसे सम्मानपूर्वक कहा, "हे साधुवर, महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। यदि अनुमति दें तो मैं आपको उनके पास ले जाऊँ।" नम्बी ने बिना कोई आगा-पीछा किये उसे रास्ता दिखाने को कहा। रसोइया उन्हें राजा के पास ले गया। राजा उस समय तक एक निर्जन कमरे में बैठे अनन्यमन से उन्हीं साधु के विषय में विचार कर रहे थे। सहसा रसोइये के साथ उन्हें अपने सम्मुख उपस्थित देखकर वे अतिशय पुलकित हो उठे और बोले, "महाशय, मैं आपकी चरण-वन्दना करता हूँ। मैं आपका दास हूँ, मेरे समक्ष कोई संकोच मत कीजियेगा।

बोलिए, आप किस उद्देश्य से बिना मूल्य लिये वह उपयोगी शाक मेरे लिये लाते हैं । यदि मैं आपके किसी काम आ सका, तो स्वयं को कृतार्थ मानूँगा ।'' यह सुनकर नम्बी ने कहा, ''मैं आपसे अकेले में कुछ कहना चाहता हूँ ।'' राजा ने रसोइये को तत्काल रसोईघर में जाने को कहा और कमरे का द्वार बन्द करके साधु को बैठने के लिये आसन दिया; इसके बाद उनकी अनुमति पाकर स्वयं बैठे ।

राजा के बैठ जाने पर नम्बी बोले, ''हे महाराज, काफी काल पूर्व आपके पितामह नाथमुनि वैकुण्ठ-लोक चले गये । शायद आप उन्हें भूले न होंगे । मैं उन्हीं का एक दास हूँ । देहत्याग के समय वे काफी अमूल्य धन उचित समय पर आपको सौंपने के लिये मेरे पास रख गये हैं । आप वही धन स्वीकार करके मुझे छुटकारा प्रदान करें ।'' आलवन्दार धन की बात सुनकर बड़े हर्षित हुए, क्योंकि उन्हीं दिनों वे किसी सामन्त राजा पर चढ़ाई करने की तैयारी में लगे हुए थे और इस कार्य के लिये उन्हें धन की विशेष जरूरत थी । पितामह द्वारा धन रख जाने की बात पर उन्हें जरा भी सन्देह नहीं हुआ, क्योंकि उनके पितामह एक ख्यातनामा महापुरुष थे और उनके लिये कुछ भी असम्भव न था । अतएव जब उन्होंने सुना कि पितामह उनके लिये काफी धन छोड़ गये हैं, तो वे बड़े आग्रहपूर्वक महात्मा नम्बी से बोले, ''महाराज, सचमुच ही आप महात्यागी साधु हैं, क्योंकि उस प्रभूत धनराशि आप स्वयं ही न पचाकर मुझे सौंपने के लिये इतने काल तक प्रतीक्षा करते रहे । अब कृपा करके बताइये कि वह धन है कहाँ?'' नम्बी ने उत्तर दिया, ''आप यदि मेरा अनुगमन करें, तो मैं आपको जहाँ धन रखा है, वहीं ले चलूँगा । दो नदियों के बीच स्थित सात दीवारों के बीच वह धन रखा हुआ है । एक महानाग सर्वदा उसकी रक्षा करता है और हर बारह वर्ष पर दक्षिणी सागर से एक राक्षस आकर उसका निरीक्षण कर जाता है । वह एक मंत्र के बल से घिरा हुआ है और उसी मंत्र तथा एक विशेष पत्ते की महान् शक्ति के प्रभाव से वह पुन: प्रकट होगा, तब आप उसे ग्रहण करने में समर्थ होंगे ।'' सुनकर राजा ने कहा, ''मैं अभी अपनी चतुरंगिनी सेना लेकर वहाँ जाने को तैयार हूँ । आप पथ-प्रदर्शक बनें ।'' इस पर नम्बी ने कहा, ''हे राजन्, वहाँ बहुत-से लोगों का समावेश होना उचित नहीं है । आप अकेले ही मेरे पीछे पीछे चलें ।'' इस पर वीरवर आलवन्दार ने, ''आप जो आज्ञा देते हैं, मैं वही करने को तैयार हूँ । अत: यथाशीघ्र चलिये,'' यह कहकर अपनी अनुपस्थिति में राजकार्य शृंखलाबद्ध रूप से चलाने की व्यवस्था की और नम्बी का अनुसरण किया ।

वे लोग मदुरा से उत्तर की ओर चलने लगे । दोपहर हो जाने पर किसी स्थान पर रुककर जब राजा स्नानादि के बाद विश्राम करने लगे, उसी समय नम्बी ने मधुर स्वर में भगवद्गीता का पाठ आरम्भ किया । राजा को काफी काल से आध्यात्म-राज्य पूर्णत: विस्मृत हो गया था; गीता की मधुर ध्वनि से उनकी पूर्वस्मृति धीरे धीरे जागने लगी । जगत् उन्हें नश्वर बोध होने लगा और क्रमश: उनके मन में स्वत: ही ऐसा भाव उदित होने लगा कि वे मानो इस धरती के व्यक्ति नहीं हैं, उनका घर इस संसार-सागर के उस पार स्थित है और अब तक मानो वे भ्रमान्ध होकर मिथ्या को ही सत्य मान रहे थे, धर्मशाला को ही स्वगृह समझ रहे थे । गीता के मधुर पाठ का वे अमृत के समान उपभोग करने लगे । नम्बी का दैनन्दिन पाठ समाप्त हो जाने पर आलवन्दार ने उनसे हाथ जोड़कर कहा, ''हे साधुवर, यदि कोई आपत्ति न हो, तो कृपा करके इस दास को भी श्री गीतामृत पान का अधिकारी बनाएँ । आपके श्रीमुख से गीता की मधुर ध्वनि सुनकर आज मेरे हृदय में नवीन भाव-तरंगों का आलोड़न हो रहा है – इच्छा होती है कि राजपाट सब त्यागकर मैं भी आपके पीछे पीछे इस जगत् में पथिक के समान इधर-उधर विचरण करूँ । वास्तव में मुझे बोध हो रहा है कि मैं एक पथिक हूँ और मेरा घर कहीं अन्यत्र है । आप कृपा करके मुझे गीतामृत का अधिकारी बनाइये । आज से मैं आपका शिष्य हुआ ।''

यह सुनकर नम्बी के मुखमण्डल पर विस्मय का भाव प्रकट हुआ और उनकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए वे कहने लगे, ''हे राजन्, मुझे पहले से ही आशा थी कि आपके समान महापुरुष के मुख से ऐसी ही कामना व्यक्त होगी । अपनी आशा पूरी होते देख मुझे असीम आनन्द हुआ है । आप मेरे शिष्य होने के उपयुक्त नहीं हैं, बल्कि मैं ही आपका शिष्य होने के योग्य हूँ । आपके निर्देशानुसार मैं यथासाध्य गीता की व्याख्या करूँगा । आप अनुग्रह करके सुनें, तो मैं स्वयं को कृतार्थ मानूँगा । यदि कोई महत्वपूर्ण कार्य न अटके, तो कुछ दिन यहीं रहकर गीताचर्चा करने में कोई हर्ज है क्या?'' इस पर आलवन्दार ने उत्तर दिया, ''कोई महत्वपूर्ण कार्य हो या न हो, गीताध्ययन सर्वश्रेष्ठ कर्म है, इसका आपके साथ रहकर मुझे बोध हुआ है । गीताध्ययन ही प्रथम कर्तव्य है, अन्य कर्मों का बाद में अनुष्ठान हो सकता है ।'' राजा की इच्छानुसार नम्बी प्रतिदिन गीता का पाठ करने लगे । उनकी भक्तिरस-भीनी मधुर व्याख्या सुनकर आलवन्दार को राजकार्य आदि सब विस्मृत हो गया । जिन भाग्यवान को एक बार भी भगवान के सौन्दर्य की उपलब्धि हो जाती है, उन्हें उसी क्षण जगत् का विस्मरण हो जाता है । इसी कारण गोपिकाओं ने श्रीकृष्ण के विरह में आकुल होकर – **इतररागविस्मारणं नृणाम्**[१] – 'लोगों की अन्य आसक्तियाँ भुला देनेवाली' – कहते हुए उनकी अतुल्य रूप-माधुरी का वर्णन किया है । गीता उन्हीं भगवान की द्वितीय मूर्ति है । उन्होंने स्वयं कहा है,

१. श्रीमद्भागवत् १०/३१/१४

"**गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम्** – अर्थात् "हे पार्थ, गीता मेरा हृदय है और गीता ही मेरा सार-सर्वस्व है ।" श्रीकृष्ण के हृदय-सागर मथित होने से गीतारूपी अमृतमय नवनीत प्रकट हुआ है ।

इस गीता का मर्म जिन पुण्यशील भाग्यवान व्यक्ति ने एक बार भी पा लिया है, वे क्या किसी अन्यं रस से आकृष्ट हो सकते हैं? यह सत्य है कि आजकल बालक भी गीता कण्ठस्थ कर लेते हैं और विधर्मी धर्मप्रचारक उसके प्रत्येक वर्ण में भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाते, अत: आप कह सकते हैं कि गीता यदि इतनी ही मनोहर है, तो इससे सभी लोग क्यों आकृष्ट नहीं होते? इसके उत्तर में हमारा कहना है कि जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्द की माधुरी का आस्वादन करने के लिये क्रमश: नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा तथा कर्ण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गीता-माधुरी का आस्वादन करने के लिये शुद्ध बुद्धि तथा भक्तिपूर्ण हृदय आवश्यक है । जिनके पास इनका अभाव है, उनके लिये गीता के माधुर्य की उपलब्धि का प्रयास वैसे ही है, जैसे अन्धे द्वारा चाँद को देखकर आनन्दलाभ की आशा करना । अनेक जन्मों तक सत्कर्मों का अनुष्ठान करने पर चित्त निर्मल होने के बाद आस्तिक बुद्धि का उदय होता है और ऐसे चित्त में भगवद्भक्ति स्वत: ही प्रकट होती है । वैसा भक्तिपूर्ण हृदय ही गीतारूपी अमृत के रसास्वादन का अधिकारी होता है । श्रीरामकृष्णदेव ने एक मनोहर उदाहरण देकर इस बात को और भी सहज ढंग से समझा दिया है । तोता यदि सर्वदा पवित्र 'राधाकृष्ण' नाम का उच्चारण करता रहे, तो भी उसमें उस पवित्र नाम की रसास्वदन-क्षमता का अभाव होने के कारण, जब उसे बिल्ली पकड़ती है, तब वह जैसे उस निखिल-लोक-शरण युगलनाम को भूलकर अपनी जातिसुलभ 'टें टें' की ध्वनि के द्वारा ही अपने मर्मान्तक भय को व्यक्त करता है, वैसे ही यद्यपि अनेक लोग आसानी से गीता की आद्योपान्त आवृत्ति कर लेते हैं, तथापि चूँकि वे पक्षी के समान ही पाठ करते हैं, इस कारण उसका कोई फल नहीं होता । तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान के मुखपद्म से नि:स्रित पवित्र वचनावली का उच्चारण करने से हृदय थोड़ा-बहुत निर्मल अवश्य होता है ।

परन्तु आलवन्दार पक्षी के समान श्रोता या वक्ता न थे । उनकी असीम धीशक्ति का परिचय हमें पहले ही मिल चुका है । राज्यकार्य के निर्वाह हेतु रजोवृत्ति का आश्रय लेने के बावजूद पितृ-पितामहों की सात्त्विक प्रकृति ने कभी उनका परित्याग नहीं किया था । वह राजसिक आवरण से मात्र ढँका हुआ था । महात्मा नम्बी के सान्निध्य तथा सम्भवत: उनके द्वारा प्रदत्त शाक का आहार करने से वे उस रज: के आवरण से मुक्त हो गये थे । अत: इसमें क्या सन्देह कि उस समय उनके सत्त्वोद्भासित हृदय में गीतार्थ की सम्यक् उपलब्धि तथा धारणा करने की क्षमता विद्यमान थी? नम्बी के भक्तिमय हृदय-सरोवर में उत्पन्न प्रेम-कमलिनी के मधु-सौरभ से उनका मनोभृंग मुग्ध हो गया । वही मधुरिमा उनके लिये '**इतरराग-विस्मारणं नृणाम्**' के समान हो गयी । अत: उनके हृदय से राजकर्म तथा राज्यभोग की लिप्सा क्रमश: धुलने लगी । जब नम्बी प्रेमाश्रु बहाते हुए गाने लगे –

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।[२]

तो राजा भी अधीर होकर पश्चाताप करते हुए कहने लगे, "हाय! हाय! इतने दिनों तक मैं केवल क्षणभंगुर 'काम-कांचन' में ही मन-बुद्धि को सौंपकर पशुवत् जीवन बिता रहा हूँ! तथापि अपनी बुद्धिमत्ता का मुझे बड़ा अभिमान है! धिक्कार है मेरी बुद्धिमत्ता को! जैसे कौए की बुद्धि उसे विष्ठा खाने को प्रवृत्त करती है, वैसे ही मेरी बुद्धि ने मुझे विषयविष्ठा का कीट बना रखा है । ऐसी बुद्धि की मुझे कोई जरूरत नहीं । हाय! मैं कब विषय से अपने मन को उठाकर ईश्वर को समर्पित कर सकूँगा? हे गुरो! मेरा वह दिन कब आएगा?" यह कहकर वे शोकमग्न हो गये । नम्बी बोले, "हे राजन्, आपकी सात्त्विक बुद्धि सर्वदा ही नारायण के श्री पादपद्म में आबद्ध है । पर जैसे मेघ सूर्य को ढँक लेता है, उसी प्रकार बीच में विषय-वासना ने कोटिसूर्यप्रभ, सर्वभूतजीवन, आनन्दघनविग्रह, अनुच्छिष्टधर्मा, अविच्छिन्न प्रेमप्रवाह के स्रोत, निखिल जीवों के मनोहारी श्रीभगवान के विग्रह को केवल कुछ काल के लिये आवृत्त कर रखा था । अब वह मेघ हटने ही वाला है । अत: आप चिन्तित न हों । शीघ्र ही सुखसूर्य आपके हृदय के समस्त अन्धकार को मिटा देगा ।" आलवन्दार थोड़े शान्त हुए ।

यामुनाचार्य बाल्यकाल से ही बड़े स्नेहपूर्वक लालित-पालित हुए थे । कष्ट किसे कहते हैं, यह उन्हें ज्ञात ही न था । राजा होने के बाद से ही वे राजकीय ऐश्वर्य में जीवन बिता रहे थे । प्रजा की उनके प्रति अतिशय भक्ति थी । सभी उन्हें अष्ट लोकपालों के अंशरूप मानकर उन्हें भगवान के समान पूजते थे । उनकी असीम मेधा तथा धीशक्ति के कारण ही सभी उन्हें गुरु-स्वरूप मानते थे । कोई उनके मत के विपरीत आचरण नहीं करता था, क्योंकि सभी जानते थे कि महाराज जो निर्णय लेंगे, वह पूर्णरूपेण भ्रम-प्रमादरहित होगा । इस प्रकार बचपन से ही वे केवल आधिपत्य करते आये थे । उनका अधिपति कोई भी न था । अब नम्बी को पाकर उनके हृदय में दास्यभाव जाग्रत हो उठा । "माँ अब और उन्हें चुसनी देकर भुलाए न रख सकीं ।"

शुद्ध बुद्धि की प्रभा से उनका हृदय उद्भासित हो उठा । उन्होंने सोचा, "जो व्यक्ति विषयभोग की लिप्सा से इधर-उधर

---

२. गीता (१२/८)

दौड़ता है, जो काम-क्रोध का दास है, वह क्या कभी प्रभु हो सकता है? दास क्या कभी स्वामी हो सकता है? मैं इतने दिन अपने को प्रभु समझकर कितने भ्रम में पड़ा था! दास के लिये दासतुल्य वस्त्र ही धारण करना उचित है । आज मैं प्रभु का वेश त्यागकर महात्मा नम्बी का दासत्व स्वीकार करके अपने को कृतार्थ करूँगा ।'' यह निश्चय करके अपना अभिप्राय नम्बी के सामने व्यक्त करते हुए वे बोले, ''हे स्वामी, आप मुझे अपना दास बना लें । यदि मैं काम-कांचन के दासत्व से मुक्त होकर आपके समान नारायण-शरण महापुरुष का दास हो सकूँ, तो मेरे लिये इससे बढ़कर गौरव की दूसरी कौन-सी बात होगी? अतएव आप मुझ पर कृपा करें । मुझे धन आदि की कोई जरूरत नहीं । धन से केवल अभिमान व अहंकार की वृद्धि ही होती है । अपने पितामह का धन पाने की अब मुझे कोई इच्छा नहीं । आप मुझे अपने दास के रूप में स्वीकार कर काम-क्रोधादि के दासत्व से मेरा उद्धार कीजिये ।''

आलवन्दार के हृदय में वैराग्य का तीव्र अनल प्रज्ज्वलित हुआ देखकर नम्बी के आनन्द की सीमा न रही । उन्होंने हृदय के उल्लास को अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के आवरण में छिपाकर राजा से कहा, ''हे राजन्, आपके समान वीर महापुरुष क्या कभी इन्द्रियों का दास हो सकता है? आप ऋषीकेश के नित्यदास हैं, मैं आपके जैसे महानुभाव की थोड़ी-सी सेवा करके स्वयं को कृतार्थ समझ रहा हूँ । आपके पितामह भगवद्भक्तों में अग्रगण्य थे । आपने उसी महाकुलीन वंश में जन्म लिया है । आज मैं आपके भीतर अपने प्रभु महात्मा नाथमुनि का आविर्भाव देख रहा हूँ । आज मैं धन्य हुआ ।'' नम्बी के चुप हो जाने पर आलवन्दार ने गद्गद् कण्ठ से कहा, ''हे गुरो, आप मेरी ऐसी प्रशंसा मत करें । मैंने सचमुच ही संकल्प कर लिया है कि मैं अपने बाकी जीवन में आपका अनुगामी होकर संसार के प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँगा । इस संसाररूपी भयंकर तरंगाकुल महासमुद्र में आपके समान कर्णधार के अभाव में मेरी जीर्ण नौका डूब जायेगी और अन्त में विषय रूपी मगर मुझे निगल डालेंगे । अत: आप दया कीजिये ।''

नम्बी बिना कोई उत्तर दिये मधुर वाणी में गीता के १८वें अध्याय का पाठ करने लगे । क्रमश: वे गीता के चरम श्लोक तक जा पहुँचे । जब वे परमभक्ति सह आलवन्दार को लक्ष्य कर धीरे धीरे उसे गाने लगे –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । १८/६६

– ''सभी कर्तव्यों को त्यागकर एकमात्र मुझमें शरण लो और चिन्ता छोड़ दो, क्योंकि मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा ।'' श्री नारायण के मुखचन्द्र से नि:सृत इस आशावाणी ने उनके हताशायुक्त हृदय को पुनर्जीवन प्रदान किया । वे यह सोचकर व्याकुल थे कि इन्द्रियों के बन्धन से उन्हें कैसे छुटकारा मिलेगा । अब परित्राण का उपाय सुनकर उनके चित्त में आशा का संचार हुआ, उनके मुख पर छाई कालिमा लुप्त हो गई । वे कृतज्ञ हृदय से बारम्बार नम्बी की वन्दना करने लगे । अब उनकी चिन्ता दूर हो चुकी थी ।

पाठ समाप्त कर नम्बी ने कहा, ''महाराज, कल हम लोग अपने गन्तव्य स्थान की ओर चल पड़ेंगे ।'' इस पर आलवन्दार ने क्षुब्ध होकर कहा, ''आप मुझे 'महाराज' कहकर सम्बोधित न करें । मुझे अपना शिष्य और दास बना लीजिये ।'' नम्बी बोले, ''हे सत्पुरुष, पहले मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेने दीजिये । जब तक मैं आपके पितामह का धन आपको लौटा नहीं दूँगा, तब तक उऋण नहीं हो सकूँगा ।'' नम्बी ने इतनी गम्भीरतापूर्वक ये बातें कहीं कि आलवन्दार इस पर कुछ और नहीं कह सके ।

अगले दिन वे लोग अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े । चार दिन बाद वे कावेरी के तट पर जा पहुँचे और वहाँ स्नानादि करके अपने को कृतार्थ माना । फिर उन्होंने कावेरी पारकर उस पवित्र भूमि का पदार्पण किया, जिसके दक्षिण की ओर कावेरी तथा उत्तर की ओर कोलेरून ने प्रवाहित होकर द्वीपाकार बना दिया है और सप्त प्राकारों से घिरा हुआ श्री रंगनाथ का विशाल मन्दिर जिसका अलंकार-स्वरूप है । नम्बी आगे आगे चल रहे थे और आलवन्दार प्रेमोन्मत्त हृदय के साथ हाथ जोड़े शेषशायी, लक्ष्मीपति जगदादि विश्वोदर विश्वबीज सर्वशोभासम्पन्न श्री मन्दिर की ओर उनके पीछे पीछे अग्रसर होने लगे । एक एक कर छह तोरण पार हो गये । सातवें तोरण के द्वार पर जाकर नम्बी ने श्री रंगनाथजी की ओर देखते हुए आलवन्दार से कहने लगे, ''हे निर्मलात्मा, आपके पितामह द्वारा प्रदत्त धन सामने शेषशय्या पर लेटे हुए हैं, ग्रहण कीजिये । लक्ष्मी जिनके चरण दबा रही हैं, जगत्कारण ब्रह्म जिनके नाभिकमल में आसीन हैं, विश्व-ब्रह्माण्ड जिनके भीतर निहित है, जो परमानन्द तथा परम शान्ति के स्वरूप हैं, जो सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं, आपके पितामह उन्हीं के अधिकारी थे । आप उनके पौत्र हैं । अत: उस धन के आप ही एकमात्र अधिकारी हैं । अपना धन ग्रहण करके आप मुझे ऋणमुक्त करें । यह वही धन है, जिसके लिये आप राज्य छोड़कर यहाँ आये हैं ।''

नम्बी का अन्तिम वाक्य समाप्त होते-न-होते आलवन्दार उन्मत्त की भाँति मन्दिर के भीतर प्रविष्ट हुए और श्री रंगनाथ के अंग पर पड़कर अचेत हो गये । पितामह द्वारा प्रदत्त धन को आलवन्दार ने पूर्णरूपेण ग्रहण किया । वे अब श्रीरंगनाथ जी के ही होकर रह गये, उनसे अलग नहीं हो सके । विश्व-ब्रह्माण्ड के राजा के साथ अपनत्व की उपलब्धि करने के बाद

(शेष पृष्ठ २३१ पर)

जीना सीखो (५)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने ने युवको को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

मेरा समय अमूल्य है

एक बार मैं एक सुविख्यात सामाजिक नेता तथा उद्योगपति से उनके कार्यालय में मिला। वे एक वयोवृद्ध सज्जन थे। उनकी मेज के किनारे रखी एक तख्ती पर लिखा था – "मेरा समय मूल्यवान है"। मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने सोचने लगा – क्या इनका तात्पर्य यह है कि इन्हीं का समय कीमती है, बाकी लोगों का नहीं? उसे दुबारा पढ़ने पर मुझे लगा कि यह एक महत्वपूर्ण कथन है। जो लोग अपना समय मूल्यवान समझते हैं, वे दूसरों का भी समय नष्ट नही करना चाहते। यह तख्ती उन लोगों के लिये एक चेतावनी थी, जो अपने समय की कीमत को न समझ पाने के कारण दूसरों का समय नष्ट करने में भी किसी हिचकिचाहट का बोध नहीं करते।

अपने समय को मूल्यवान घोषित करनेवाले वे वृद्ध सज्जन में प्रतिदिन १६ घण्टे से अधिक कार्य कर सकने की क्षमता थी। वे धैर्यपूर्वक अपनी विशाल संस्था की सैकड़ों समस्याओं को सुनते और आनेवाले बहुत-से लोगों की शंकाओं तथा समस्याओं का समाधान करते। अपनी जीवन शैली के द्वारा उन्होंने अपने समय को मूल्यवान सिद्ध कर दिया था।

तुम भी अपने मन के समक्ष ऐसी ही एक तख्ती लटकाओ और इस प्रकार अपने समय की कीमत समझो।

अब थोड़ा गणित करके देखें। एक वर्ष में कुल ८७६० घण्टे होते हैं। अब जरा सोचो कि तुम यह समय कैसे बिताते हो – कितना समय सोने को, कितना खाने को, कितना विश्राम को और कितना मनोरंजन को देते हो। एक कागज पर यह सब लिखो। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि तुम्हारे पास कितनी अधिक फुरसत है! इस बात पर भी तुम्हें विस्मय होगा कि तुमने अपने अवकाश के इन क्षणों का सदुपयोग किया या उन्हें व्यर्थ ही जाने दिया। यदि तुम केवल धन कमाने को ही एकमात्र महत्व की बात मानते हो और समय की परवाह नही करते, तो शीघ्र ही तुम्हारी समझ में आ जायेगा कि तुम्हारी आर्थिक अवस्था ठीक नहीं चल रही है। समय का ठीक ठीक सदुपयोग ही सच्ची सफलता की कुंजी है।

प्रतिदिन गप्पों में व्यर्थ जानेवाले एक या दो घण्टों का समय वस्तुत: काफी मूल्यवान है और उसका अनेकों प्रकार से सदुपयोग किया जा सकता है। व्यर्थ बिताया हुआ समय कभी लौटकर नही आता। आवश्यकता पड़ने पर हम सुधार लेंगे – ऐसा सोचकर हम अपने वर्तमान समय को बिना सोचे-समझे व्यर्थ गँवाने का जोखिम नहीं उठा सकते। हमारे जीवन की अवधि इतनी लम्बी नहीं है कि हम इसे ऐसे टालमटोल में बिता सकें। सादा जीवन बितानेवाले मितव्ययी व्यक्ति के पास व्यर्थ के कामों के लिये समय ही नहीं होता। हम व्यर्थ की चर्चाओं में समय क्यो बरबाद करें? अपनी दिनचर्या के लिए एक सारिणी बनाओ और उसका दृढ़तापूर्वक पालन करो। ऑस्लर के इन शब्दों को न भूलो – "अभी से सतर्क न हुए, तो बाद में पछताना होगा।" उमर खैयाम ने भी कहा है –

हमारा जीवन पक्षी
केवल थोड़ी ही दूर तक उड़ सकता है।
इसने पंख फैला दिये हैं,
देखो, यथाशीघ्र इसकी दिशा सोच लो।

दान्ते ने ठीक ही कहा था – "बीत रहा आज फिर वापस नहीं लौटेगा।" समय बड़ी तेजी से निकल रहा है। अन्तरिक्ष में हमारी गति ३० कि.मी. प्रति सेकेण्ड है। हमारे पास केवल आज का दिन है, बस यही क्षण है। यही हमारी एकमात्र सम्पत्ति है। हमें भूत-भविष्य की चिन्ता छोड़ अपनी सारी चेष्टा अपने तात्कालिक कार्य को ही ठीक ठीक पूरा करने में लगाना होगा। तभी हमारा जीवन सार्थक होगा और हमें एक उत्साह, ताजगी तथा आलोक की अनुभूति होगी। तब दिन दिन करके वर्ष बीतेगा और प्रतिक्षण किया गया हमारा सुकर्म एकत्र होकर ज्ञान तथा सदाचरण का एक विशाल भण्डार बन जायेगा।

एक बार किसी ने जार्ज बर्नार्ड शॉ से पूछा, "आप अपनी दाढ़ी साफ क्यों नहीं करते?" शॉ ने उत्तर दिया, "इससे समय बरबाद होता है। प्रतिदिन ४ मिनट बचाकर अब तक मैंने अपने जीवन के १० महीने बचा लिये हैं।"

इसका मतलब यह नहीं कि दाढ़ी बढ़ानेवाले सर्वदा अपने समय का सदुपयोग करते हैं। तथापि यह एक ऐसे विद्वान का कथन है, जो समय की कीमत समझते थे और यथासम्भव उन्होंने अपने समय का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने दिया।

हाँ, हमारे जीवन की अवधि सीमित है और हमारा समय मूल्यवान है। हमें अभी, इसी क्षण काम में लग जाना होगा।

तुम स्वयं के लिये

मृत्यु के बाद मानव की गति के बारे में हमारे पुराण क्या कहते हैं? यही कि इस पृथ्वी पर किये दुष्कर्मों के फलस्वरूप उसे नरक में दण्ड भोगना पड़ता है। विलियम जेम्स कहते हैं कि यदि हम आचार-व्यवहार का गलत मार्ग चुनते हैं, तो हमें

अधिक कष्ट उठाना होगा। उन्होंने लिखा है, "धर्मग्रन्थों में मरणोपरान्त जिस नरक की बात कही गयी है, अपने दुष्कर्मों द्वारा हम इस धरती पर उससे भी बुरा नरक बनाते हैं।"

यह सत्य है। हमारे दुष्कर्मों द्वारा रचा गया नरक पुराणों में वर्णित नरक से बदतर है। आश्चर्य की बात तो यह है कि हम स्वयं ही अपने लिये नरक और स्वयं ही स्वर्ग रचते हैं।

सम्भव है पिता का ऋण पुत्र चुका दे, बड़े भाई द्वारा शुरू किया गया भवन-निर्माण का कार्य छोटा भाई पूरा कर दे, पर अपनी प्यास बुझाने के लिये स्वयं ही जल पीना होगा और भूख मिटाने के लिये स्वयं ही खाना होगा। अपनी समस्याओं का हल तुम्हें स्वयं ढूँढ़ना होगा। अन्य लोग सलाह दे सकते हैं, परन्तु लक्ष्य तक तो तुम्हीं चलोगे। तभी तुम्हें जीवन में कुछ मिलेगा। अपना जीवन अनुशासित तथा व्यवस्थित रूप से बिता पानेवाले लोग निश्चय ही भाग्यशाली हैं। सब भाग्य पर छोड़ देने से तुम्हें कार्य में उत्साह नहीं आयेगा और जीवन की बरबादी से दुःख तथा निराशा ही तुम्हारे हाथ लगेगी।

शक्ति ही जीवन है

दुनिया निर्बलता को नहीं, बल्कि शक्ति को ही पूछती और पूजती है। हमारे युवकों को सदा याद रखना चाहिये। क्रिकेट में कोई बल्लेबाज लगातार चार छक्के लगा दे, तो सभी हर्ष में उछल पड़ते हैं, नाचने लगते हैं, उसे उठाकर जुलूस निकालते हैं। क्या यह शक्ति, ऊर्जा तथा कर्मठता की ही पूजा नहीं है? शक्ति, ऊर्जा तथा कर्मठता को दुनिया मानती है। सन्त पुरन्दरदास कहते हैं, "निर्बल होने पर मित्र भी शत्रु बन जाते हैं!" कितनी सच्ची है यह बात! लाड़-प्यार में पला यदि कोई बालक बाद में बीमार, दुर्बल तथा मन्दबुद्धि निकले, तो उसके माता-पिता भी अपने भाग्य को कोसते हुए कहते हैं, "इसका जन्म ही क्यों हुआ? यह हमारे कुल पर कलंक है।" सचमुच ही बलवान को सभी अपना मित्र बनाना चाहते हैं। निर्बल को लोग अपने भाग्य पर छोड़ देते हैं। जब तक तन-मन साथ दें, प्रत्येक अवसर का लाभ उठाते हुए हर प्रकार से अपनी शक्ति बढ़ाने में ही बुद्धिमत्ता है। हमें केवल अपने शरीर-मन का बल और अपनी बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों का ही नहीं, अपितु अपनी आत्मशक्ति का भी विकास करना होगा। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "यह एक बड़ी सच्चाई है – शक्ति ही जीवन और दुर्बलता मृत्यु है। शक्ति परम सुख, जीवन अजर-अमर है; दुर्बलता कभी न हटनेवाला बोझ और यंत्रणा है; दुर्बलता ही मृत्यु है।" उन्होंने अपने देशवासियों को उपदेश दिया, "हमें लोहे के पुट्ठे और इस्पात के स्नायु चाहिए, जिनमें वज्र का मन निवास करे।" दुर्बल व्यक्ति स्वयं तो नष्ट होता ही है, साथ ही दूसरों के मन में भी शोषण तथा हिंसा-वृत्ति का प्रेरक होता है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा शरीर, मन तथा आत्मा को सशक्त बनाने पर सर्वाधिक बल देती है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था, "दुर्बल मत होना, निराश मत होना।" कहावत है – **देवोऽपि दुर्बलस्य घातकः** – भाग्य भी दुर्बलों का पक्ष नहीं लेता। घोड़े, हाथी या बाघ को नहीं, बल्कि बेचारे बकरे को ही पकड़कर बलिदान किया जाता है। दुःख की बात यह है कि प्रकृति भी निर्बल को नष्ट करती है!

सम्भव है रोज ऐसी सैकड़ों घटनाएँ होती हैं, जो हतोत्साहित ही नहीं, बल्कि हमें निर्बल भी बनाती हैं। युवक उनसे बड़े प्रभावित होते हैं, पर हमें यह समझ लेना चाहिये कि जीवन चाहे जितना भी अबूझ या निराशाजनक प्रतीत हो, उन पर विजय पाने की शक्ति हमारे पास ही, हमारे भीतर ही है। जाति, वर्ण या पंथ से निरपेक्ष, हर व्यक्ति में एक अजर-अमर दिव्य शक्ति विद्यमान है। मनोवैज्ञानिक इसे प्रमाणित भी कर सकते हैं। जीवन-यापन के लिये आवश्यक शक्तियाँ – मार्ग-दर्शन, बल, सम्बल, प्रेरणा, शान्ति आदि सभी हमारे भीतर ही हैं। तथापि, अपने अन्दर ऐसी असीम शक्ति के होते हुए भी, क्यों हम दासों के समान व्यवहार करते हैं? इसका पहला कारण है अज्ञान और दूसरा कारण हमारा नकारात्मक दृष्टिकोण, जो हममें बचपन से ही विकसित हो रहा है। प्रत्येक नकारात्मक भाव या विचार हमारे अन्दर की प्रचण्ड शक्ति को क्षीण करके हमें निर्बल बना देता है और प्रत्येक सकारात्मक तथा रचनात्मक भाव हमें प्रगति तथा विकास की ओर अग्रसर कराता है।

स्वामी विवेकानन्द के इन शब्दों पर बारम्बार मनन करो और स्वयं ही उसका प्रभाव देख लो – "सारा उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर लो – याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। अतएव इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। **गतस्य शोचना नास्ति** – अतीत की घटनाओं पर खेद मत करो, अब तो सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। तुम सदैव यह बात स्मरण रखो कि तुम्हारा प्रत्येक विचार, प्रत्येक कार्य संचित रहेगा; और यह भी याद रखो कि जिस प्रकार तुम्हारे असत्-विचार और असत् कार्य शेरों की तरह तुम पर कूद पड़ने की ताक में हैं, उसी प्रकार तुम्हारे सत्-विचार और सत्-कार्य भी हजारों देवताओं की शक्ति लेकर सर्वदा तुम्हारी रक्षा के लिए तैयार हैं।"

ये शब्द संजीवनी की चिनगारियों के समान हैं। वे सुकर्म की प्रेरणा शक्ति हैं। यदि हम ज्ञान के इन शब्दों को विस्मृत कर दें, तो भला प्रगति कैसे करेंगे?

क्या तुम जानते हो कि 'प्रत्येक भौतिक बाह्य उत्तेजना की प्रतिक्रिया तुम्हारे मस्तिष्क की १०० करोड़ कोशिकाओं पर होती है? यह प्रभाव स्थाई होता है तथा प्रत्येक नई प्रतिक्रिया

के द्वारा इसका विस्तार होता है। इन संस्कारों की समष्टि से ही तुम्हारा व्यक्तित्व बनता है।'' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स कहते हैं, ''ईश्वर भले ही हमारे पाप क्षमा कर दे, परन्तु हमारा स्नायविक तंत्र ऐसा कभी नहीं करता।''

भला हो या बुरा, परन्तु अपने भविष्य के निर्माता तुम स्वयं हो। अत: जैसा कि सेमुअल स्माइल्स ने कहा, ''एक सुविचार लो और वह तुम्हें एक सत्कर्म में प्रेरित करेगा। वह सत्कर्म तुममें एक अच्छी आदत डालेगा। एक अच्छी आदत तुम्हारे पूरे आचरण को नया रूप देगी और भले आचरण से तुम्हारा भाग्य खुल जायगा।'' अब भी सुन लो! क्या तुम अपनी देह-मन रूपी अद्भुत यंत्र में छिपी महाशक्ति का लाभ उठाओगे?

इससे तुम्हारे जीवन में एक मूलभूत परिवर्तन आ जायेगा। तुम पूछोगे – कैसे? – कैसे होता है, बताता हूँ –

समय का पाबन्द होना ही वह सहज उपाय है। तुम्हें जीवन के हर क्षेत्र में समय की पाबन्दी पर ध्यान देना होगा। यही हर कार्य को नियत समय में निपटाने की कला है। कुछ लोगों में यह बचपन से ही स्वाभाविक होता है, पर बाकी लोगों को इसे नियमित अभ्यास के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है।

दृढ़ संकल्प के द्वारा ही समय की पाबन्दी या नियमितता के सिद्धान्त का अनुसरण किया जा सकता है। दृढ़ संकल्प के बिना कोई प्रगति नहीं होती। अपने ज्ञान को सच्ची शक्ति में रूपान्तरित करने के लिये हमें दृढ़ संकल्प तथा समय की पाबन्दी की नितान्त आवश्यकता है।

अव्यवस्थित तथा असंयमित जीवन से किसी भी कार्य में कोई सुफल नहीं मिलता। अपनी शक्ति में वृद्धि के लिये तुम्हें स्वयं अनुशासन के सिद्धान्त का पालन करना चाहिए।

हाँ, तुम अपने ही आश्रय हो। स्वयं ही तुम अपने मित्र हो, स्वयं ही अपने शत्रु भी। कैसे? आगे पढ़ो –

खोजी मन

रूस का वुल्फ मेसिंग अपनी अतीन्द्रिय बोध के लिये बड़ा प्रसिद्ध था। उसमें दूसरों के मन को पढ़ लेने की अद्भुत क्षमता थी। तानाशाह स्टालिन ने भी उसकी परीक्षा लेकर उसे प्रमाणपत्र दिया था। आइंस्टीन, फ्रॉयड तथा गाँधीजी जैसे विख्यात नेताओं से वह मिला और उनकी प्रशंसा अर्जित की। १९२७ मे भारत आकर वह साबरमती आश्रम में गाँधीजी से मिला और उनके बिना कहे ही उनकी सारी आज्ञाओं का पालन किया। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ में वह किसी प्रकार हिटलर के मृत्यु-जाल से बचकर पोलैण्ड से रूस आया और अपनी कला का सार्वजनिक प्रदर्शन करने लगा। परन्तु उसने व्यक्तिगत व राजनैतिक स्थितियों की भविष्यवाणी नहीं की। यदि दर्शकों की भीड़ में से कोई व्यक्ति बिना बोले केवल मन में ही उसे कुछ करने को कहता, तो वह उसे पढ़कर वैसा ही कर देता। जो लोग उसकी परीक्षा करने आते, उनसे वह कहता, ''जो कुछ तुम मुझसे कहना या कराना चाहते हो, उसे एकाग्र मन से सोचो।'' कुछ काल पूर्व चिकित्सा विज्ञान के विशेषज्ञों तथा वैज्ञानिकों के समक्ष उसने एक प्रदर्शन किया। भीड़ में उपस्थित किसी के हाव-भाव के संकेत को भी पढ़ने से उसे रोकने के लिये उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी थी। पहले से ही निर्धारित एक डॉक्टर मेसिंग को मन-ही-मन निर्देश दे रहे थे। मौन एकाग्रता के साथ मेसिंग उनके मन को पढ़ रहे थे। बाद में अपनी आखों से पट्टी उतारकर वे चौथे नम्बर की कुर्सी के समक्ष गये और उस पर बैठे व्यक्ति के कोट की दाहिनी जेब से एक स्पंज तथा कैंची निकालकर भीड़ को दिखाते हुए कहा, ''मैं इस स्पंज को काटूँगा नहीं।'' और उसने चॉक से उस पर एक कुत्ते का चित्र बना दिया।

न्यायाधीश के रूप में निर्धारित सज्जन ने डॉक्टर से पूछा, ''क्या मेसिंग ने आपके निर्देशों का ठीक पालन किया है?'' डॉक्टर ने बताया कि उन्होंने मेसिंग को ४ नम्बर की कुर्सी पर बैठे मित्र की जेब से स्पंज निकालकर उसे कुत्ते के आकार में काटने का निर्देश दिया था। मेसिंग ने डॉक्टर से मन-ही-मन अनुमति लेकर योजना के अन्तिम निर्देश में परिवर्तन करके उसका ठीक पालन किया है। मेसिंग की इस अद्भुत शक्ति पर सबको आश्चर्य हुआ। इसके बाद भी उनके प्रदर्शन हुए।

कुछ लोगों ने पूछा कि वे लोगों के मन को कैसे पढ़ लेते हैं। उनका उत्तर था, ''लोगों के विचार मेरे सामने चित्रों के रूप में आते हैं। किसी क्रिया का मैं चित्र देख लेता हूँ। बहरे तथा गूँगे लोगों के विचार आसानी से आ जाते हैं, क्योंकि वे अन्य लोगों की अपेक्षा चित्रों के रूप में अधिक देखते हैं।''

हमारे विचार चित्रों के रूप में! कितने आश्चर्य की बात है!

और क्या उनमें गतिशीलता भी है? ''हाँ'', हमारे ऋषियों ने कहा था और इस क्षेत्र में खोज करने वाले आधुनिक वैज्ञानिक भी इसका अनुमोदन करते हैं।

सावधान! मन चित्र खींचता है

हम चित्रों के रूप में ही सोचते हैं। हमारी वाणी इन चित्रों की ही सांकेतिक अभिव्यक्ति है। 'वृक्ष' शब्द का उच्चारण करते ही वृक्ष का चित्र हमारे मन पर उभर आता है। जब हम 'आम का पेड़' या 'वट-वृक्ष' कहते हैं, तो हमें ये चित्र बदलते हुए प्रतीत होते हैं।

'मैं डॉक्टर बनना चाहता हूँ', 'मैं दिल्ली जाता हूँ', 'मैं एक घर बनाना चाहता हूँ', 'मैं विज्ञान पढ़ना चाहता हूँ', 'मैं एक अधिकारी बनना चाहता हूँ', 'मैं विवाह करना चाहता हूँ', 'मैं एक अभिनेता बनना चाहता हूँ', 'मैं देश के अनेक भागों

की यात्रा करना चाहता हूँ', 'मैं अपने शत्रु को पराजित करना चाहता हूँ' – ये सभी मानसिक चित्र है । आगे चलकर मन प्रत्येक चित्र की बारीकियो पर भी सोचता रहता है ।

बचपन से ही हमारे मन में विचारों के असंख्य चित्र भरे पड़े है, जो मन मे छिपे रहकर यथासमय प्रकट हो जाते हैं ।

जब तुम 'आम' शब्द सुनते हो, तो आम का रंगीन चित्र तुम्हारे मन मे उभर आता है और साथ ही उसके सुगन्ध तथा स्वाद की स्मृति से मुँह में पानी आ जाता है । अर्थात् मानसिक चित्र मे तुम्हारा अनुभव तथा उस पर तुम्हारी प्रतिक्रिया दिखाई देती है । हमारे प्राचीन ऋषियों ने इसे 'संस्कार' कहा है ।

हमारा मन मानो एक विलक्षण टेप-रेकार्डर है, जो प्रत्येक अनुभव को बारीकी के साथ अंकित करके संचित रखता है । यह छोटी-से-छोटी वस्तु का चित्र ले सकनेवाले एक संवेदनशील कैमरे के समान भी है । यह केवल ध्वनि तथा चित्र ही नहीं, बल्कि स्वाद, स्पर्श तथा गन्ध के सभी अनुभव पूर्ण क्रम से सुरक्षित रख सकता है ।

यह विभिन्न अवसरों पर हमारे सुख-दुःख के अनुभव, उन पर हमारी प्रतिक्रियाएँ और हमारे भावनाओं का उत्थान-पतन आदि सब कुछ अंकित कर रखता है । प्रत्येक व्यक्ति की चेतना मे स्थित इस कैमरे से कोई भी बच नहीं सकता । यह अतीत के संचित अनुभवों को परवर्ती अनुभवों के साथ जोड़कर उन्हें समुचित क्रम से रखता है ।

हमारे भविष्य के विचार तथा अनुभव हमारे भूतकालीन संचित विचारों तथा अनुभवों पर निर्भर करते हैं ।

एक छात्र ने लगातार सात-आठ दिनों तक एक ही फिल्म देखी । उसने बड़े ध्यान से देखा कि उसमें कैसे एक डाकू निर्दोष लोगों को मारता, पीटता और लूटता है । उसने उस कथा को भी बारम्बार पढ़ा, जिस पर वह फिल्म बनी थी । वह सोचता रहा कि मौका मिलने पर वह भी ऐसा क्यों नहीं कर सकता! एक दिन उसने वैसा ही किया । भेद केवल इतना ही था कि वह फिल्म के डाकू के समान पुलिस से हाथों से बच नही सका । वह पकड़कर कानून के हवाले कर दिया गया ।

तुम अपने मन में जो चित्र बनाते हो, वे ही तुम्हारे भावी जीवन को एक निश्चित आकार प्रदान करते हैं । गन्दे तथा भद्दे चित्रों के द्वारा भला तुम कैसे अपना जीवन उत्तम तथा सुन्दर बना सकोगे? क्या तुमने कभी अपने मन में बन रहे चित्रों की गुणवत्ता के विषय में सोचा है?

हमारे ऋषियो ने कहा, "हे ईश्वर, हम केवल भला ही देखें, केवल भला ही सुनें ।" यह स्तुति कितनी महत्वपूर्ण है!

हमारे पुराणों में मृत्यु-देवता यम का वर्णन आता है । उन्हीं को काल भी कहते हैं । काल सूर्य के पुत्र हैं । सूर्योदय तथा सूर्यास्त से ही काल का बोध होता है । हम सभी काल के अधीन हैं । सारी घटनाओं तथा अनुभवों के लेखाकार चित्रगुप्त है, जो हमारे सभी भले-बुरे कर्मो तथा अनुभवों के चित्रों को गुप्त रखते हैं । उन्हें हम देख नहीं सकते । सोचो, हमारा मन ही चित्रगुप्त है । आज के मनोवैज्ञानिक इसे सिद्ध कर रहे हैं ।

प्रयोगो के द्वारा मनोवैज्ञानिको ने प्रमाणित किया है कि सम्मोहन के द्वारा हम किसी व्यक्ति के प्रत्येक अनुभव की स्मृति को जगाकर उसे जीवित रख सकते है । जाग्रत अवस्था में बहुत प्रयास करके भी हम अतीत की गहराई में नहीं पहुँच सकते और भूली हुई बातें याद नही कर सकते । परन्तु कृत्रिम निद्रावस्था में बाल्यकाल के अनुभव सामने आते हैं और वह व्यक्ति ऐसा विस्तृत विवरण देता है मानो वे अभी हो रहे हों ।

लेस्ले लेक्रोन की पुस्तक 'प्रायोगिक सम्मोहन' से एक उदाहरण लेते हैं । एक ४५ वर्षीय व्यक्ति को वे कृत्रिम निद्रा के द्वारा उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों में ले गये । अन्त में जब उसकी चेतना उसकी तीन वर्ष की आयु के स्तर पर पहुँची, उसकी श्वास-क्रिया एकदम बदल गयी । उसमें दमा के लक्षण आ गये, फेफड़े रुद्ध हो गये, खाँसी आने लगी तथा नाड़ी तीव्र गति से चलने लगी । जाग्रत अवस्था में उसमें दमा की कोई स्मृति नहीं थी । उसकी माता ने कहा कि तीन वर्ष की आयु में वह दमा से पीड़ित था । कितने आश्चर्य की बात थी यह! इससे सिद्ध होता है कि अतीत के सुखद या दुखद – सारे अनुभव हमारे अन्तर्मन मे छिपे रहते हैं ।

वैज्ञानिकों की पद्धति को वैसी ही चुनौती देनेवाली एक अन्य घटना 'सुपर साइके' (उच्च मन) पुस्तक में मिलती है – एक अमेरिकन चिकित्सक से सम्मोहन अवस्था में उसके जन्म का वृतान्त पूछा गया । उन्होंने प्रसूति-कक्ष में लेटी अपनी माँ का पूरा वर्णन देते हुए बताया कि डाक्टर लोग दाँई ओर खड़े थे; नवजात शिशु के बारे में एक डॉक्टर की शंका भी बतायी – 'अधिक प्रतीक्षा व्यर्थ है, शिशु के बचने की कोई सम्भावना नहीं है ।' वस्तुत: उनका जन्म नियत अवधि से ६ सप्ताह पूर्व ही हो गया था और उनका वजन केवल १.६ किलो था ।

अचेतन मन में छिपे विचारों से सम्बन्धित सैकड़ों घटनाएँ है, जिनका विवरण यहाँ देना असम्भव है । पर तुम्हें यह विश्वास तो हो गया होगा कि हमारे मन में उन चित्रगुप्त के सभी गुण हैं । सार रूप में कहें, तो मनुष्य मानसिक चित्रों द्वारा ही सोचता है । हमारे अचेतन मन की गहराई में हर अनुभव तथा भाव का मानसिक चित्र संचित रहता है । मनुष्य का आज का व्यक्तित्व उसके पिछले अनुभवों की विभिन्न बौद्धिक तथा भावनात्मक प्रतिक्रियाओं का संकलन या योग है ।

कोई व्यक्ति क्या है, कैसा है? यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह स्वयं को, जीवन को तथा अपने आसपास के लोगों को किस दृष्टि से देखता है । ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

अथ द्वितीय खण्डः
ब्रह्मज्ञान की अनिर्वचनीयता

भाष्य भूमिका – एवं हेय-उपादेय-विपरीतः 'त्वम् आत्मा ब्रह्म' इति प्रत्यायितः शिष्यः 'अहम् एव ब्रह्म' इति 'सुष्ठु वेद अहम्' इति मा गृह्णीयाद् इति आशङ्कया आचार्यः शिष्य-बुद्धि-विचालनार्थम् – 'यदि' इति आह ।

उपरोक्त प्रकार से त्याज्यता तथा ग्राह्यता से रहित आत्मा का ही ब्रह्म के रूप में बोध कराये जाने पर शिष्य कहीं यह न समझ बैठे कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ – यह मैं भलीभाँति जान गया'; अत: आचार्य ने शिष्य की बुद्धि (धारणा) को हिला-डुलाकर (पक्का) ठीक करने के उद्देश्य से कहा – 'यदि' ... इत्यादि ।

ननु इष्ट एव सु वेदाहम् इति निश्चिता प्रतिपत्तिः ।

शंका – लेकिन 'मैं भलीभाँति जान गया' – ऐसा निश्चित ज्ञान ही तो अभीष्ट है!

सत्यम् , इष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिः ; न हि सुवेदाहम् इति । यद् हि वेद्यं वस्तु विषयीभवति, तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यम्, दाह्यम् इव दग्धुम् अग्नेः दग्धुः न तु अग्नेः स्वरूपम् एव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्म इति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितो अर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्न-प्रतिवचन-उक्त्या 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्यया । 'यद् वाचा अनभ्युदितम्' (केन. १/५) इति च विशेषतो अवधारितम् । ब्रह्मवित्-सम्प्रदाय-निश्चयः च उक्तः 'अन्यद् एव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि' इति । उपन्यस्तम् उपसंहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्' इति। तस्माद् युक्तम् एव शिष्यस्य सुवेदेति बुद्धिं निराकर्तुम्।

समाधान – यह ठीक है कि निश्चित ज्ञान ही अभीष्ट है, परन्तु भलीभाँति जानना नही । यदि ज्ञेय वस्तु का विषयीकरण हो, तब तो उसे भलीभाँति जानना सम्भव था । जैसे दहनशील अग्नि के लिए (काष्ठ आदि) दाह्य वस्तु को जलाना तो सम्भव है, परन्तु अपने ही स्वरूप को नही । सभी उपनिषदों का यही सुनिश्चित मत है कि प्रत्येक ज्ञाता का अपना स्वरूप ब्रह्म (ही) है; और यहाँ (इस उपनिषद् में) भी 'श्रोत्र-का-श्रोत्र' आदि के द्वारा प्रश्नोत्तर के रूप में उसी का प्रतिपादन किया गया है । तथा 'जो (चैतन्य) वस्तु वाणी या शब्द के द्वारा कही नहीं गयी है' – कहकर इसकी विशेष रूप से धारणा करायी गयी है । फिर 'यह (ब्रह्म) ज्ञात (वस्तुओं) से भिन्न है और फिर अज्ञात (वस्तुओं) से भी परे है' – के द्वारा ब्रह्मवेत्ताओं की परम्परा का (दृढ़) निष्कर्ष (भी) बताया गया है । (आगे) 'यह (ब्रह्म) जिसके लिए अज्ञात (अज्ञेय) है, उसी को ज्ञात है, (परन्तु) जो इसे ज्ञात (ज्ञेय) समझता है, उसके लिए अज्ञात है' – कहकर इस प्रकरण का उपसंहार किया जायेगा । अत: शिष्य की (ब्रह्म को) 'भलीभाँति जाननेवाली बुद्धि' का निराकरण करना (सर्वथा) उचित ही है ।

न हि वेदिता वेदितुः वेदितुं शक्यः अग्निः दग्धुः इव दग्धुम् अग्नेः । न च अन्यो वेदिता ब्रह्मणो अस्ति यस्य वेद्यम् अन्यत् स्याद् ब्रह्म । 'न अन्यद् अतः अस्ति विज्ञातृ' (बृ. उ. ३/८/११) इति अन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते । तस्मात् 'सुष्ठु वेद अहं ब्रह्म' इति प्रतिपत्तिः मिथ्या एव । तस्मात् युक्तम् एव आह आचार्यो 'यदि' इत्यादि ।

जिस प्रकार दाहक अग्नि के लिए (स्वयं) अग्नि को जलाना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार ज्ञाता (स्वयं) ज्ञाता को नहीं जान सकता । ब्रह्म को छोड़ किसी अन्य ज्ञाता का अस्तित्व नहीं है, जिसके लिए ब्रह्म अलग से ज्ञेय (जानने योग्य) बने । 'इसे (ब्रह्म) छोड़ दूसरा कोई ज्ञाता नही है' – कहकर श्रुति ने ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य ज्ञाता का निषेध किया है । अत: 'मैंने ब्रह्म को भलीभाँति जान लिया' – ऐसी धारणा मिथ्या (भ्रान्ति) ही है । इस कारण उचित ही है आचार्य का यह कथन –

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं
वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ
नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ।।१।। (९)

अन्वयार्थ – **सुवेद** (मैं ब्रह्म को) भलीभाँति जानता हूँ **इति** ऐसा **यदि** अगर **त्वम्** तुम **मन्यसे** सोचते हो, (तदा तो) **नूनम्** निश्चय ही **त्वम्** तुम **अस्य** इस **ब्रह्मणः** ब्रह्म का **यत्** जो **रूपम्** रूप (जीवों तथा) **देवेषु** देवताओं में (है) **अपि** केवल (वह) **दभ्रम्** थोड़ा **एव** ही **वेत्थ** जानते हो.। **अथ नु** अत: अब भी (ब्रह्म) **ते** तुम्हारे लिए **मीमांस्यम्** विचारणीय **एव** ही (है) ।

(शिष्य –) **मन्ये** लगता है, (मैं उसे) **विदितम्** जान गया ।

भावार्थ – (आचार्य –) "यदि तुम सोचते हो कि 'मैंने ब्रह्म को भलीभाँति जान लिया है', तो निश्चित रूप से तुमने उस ब्रह्म का वह थोड़ा-सा रूप ही जाना है, जो तुममें और देवताओं में व्यक्त हुआ है । अत: तुम्हें इस विषय पर पुन: विचार करने की आवश्यकता है ।" (शिष्य –) "लगता है अब मैंने (ब्रह्म को) जान लिया है ।"

भाष्य – यदि कदाचित् मन्यसे 'सु वेद' इति 'सुष्ठु वेद अहं ब्रह्म' इति । कदाचिद् यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयम् अपि क्षीणदोष: सुमेधा: कश्चित् प्रतिपद्यते कश्चित् न इति साशङ्कम् आह 'यदि' इत्यादि । दृष्टं च 'य एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा इति ह उवाच एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म' (छा. उ. ८/७/४) इति उक्ते प्राजापत्य: पण्डितो अपि असुरराड् विरोचन: स्वभाव-दोष-वशाद्-अनुपपद्यमानम् अपि विपरीतम् अर्थं 'शरीरम् आत्मा' इति प्रतिपन्न: ।

तथा इन्द्रो देवराद् सकृद्-द्वि: त्रि: उक्तं च अप्रतिपद्यमान: स्वभाव-दोष-क्षयम् अपेक्ष्य चतुर्थे पर्याये प्रथम-उक्तम् एव ब्रह्म प्रतिपन्नवान् । लोके अपि एकस्माद् गुरो: शृण्वतां कश्चिद् यथावत् प्रतिपद्यते कश्चिद् अयथावत् कश्चिद् विपरीतं कश्चिन् न प्रतिपद्यते । किमु वक्तव्यम् अतीन्द्रियम् आत्म-तत्त्वम्? अत्र हि विप्रतिपन्ना: सदसद्-वादिन: तार्किका: सर्वे । तस्माद् 'विदितं ब्रह्म' इति सुनिश्चित-उक्तम् अपि विषम-प्रतिपत्तित्वाद् 'यदि मन्यसे' इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तम् एव आचार्यस्य । दहरम् अल्पम् एव अपि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम् ।

यदि कभी तुम्हें ऐसा लगता है कि 'मैंने ब्रह्म को भलीभाँति जान लिया' । 'यदि' से आरम्भ होनेवाला यह वाक्य आचार्य ने इस शंका के साथ कहा कि – जैसा कि पहले बताया गया था कि (यह ब्रह्म) दुर्विज्ञेय अर्थात् कठिनाई से जानने के योग्य होने के बावजूद कभी किसी शुद्ध-चित्तवाले मेधावी व्यक्ति को ज्ञात हो सकता है, परन्तु किसी को नहीं भी प्राप्त हो सकता है । इसी कारण (शिष्य को यदि ज्ञान हुआ हो तो ठीक है और यदि न हुआ हो तो!) इस आशंका से (आचार्य द्वारा) 'यदि' इत्यादि कहा गया । क्योंकि (श्रुति में अन्यत्र) देखने में आया है कि "वे (ब्रह्मा) बोले, 'नेत्र में जो पुरुष (द्रष्टा) देखने में आता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है और यही ब्रह्म है' – ऐसा कहे जाने पर प्रजापति की सन्तान तथा विद्वान् होने के बावजूद असुरराज विरोचन को अपने स्वभाव-दोष के कारण – 'शरीर ही आत्मा है' – ऐसा अयुक्तिसंगत होने पर भी विपरीत अर्थ की ही धारणा हुई ।

वैसे ही देवराज इन्द्र ने एक बार, दुबारा और तिबारा कहे जाने पर भी (ब्रह्म को) न समझते हुए, अपने स्वभाव-दोष का क्षय हो जाने के बाद चौथी बार आकर उस पूर्वोक्त ब्रह्म को ही जान लिया था । (जब) लौकिक विषयों में भी एक ही आचार्य के श्रोताओं में से कोई तो ठीक ठीक समझ लेता है, कोई ठीक से नहीं समझता, कोई उल्टा समझता है और कोई बिल्कुल भी नहीं समझता; तो फिर इस इन्द्रियातीत (अति सूक्ष्म) आत्मतत्त्व का तो कहना ही क्या? यहाँ (आत्मतत्त्व के विषय में) भी सभी अस्तिवादी तथा नास्तिवादी तार्किकों ने गलत (भ्रान्त) धारणा बना ली है । अत: '(मुझे) ब्रह्म ज्ञात हो गया है' – ऐसा निश्चित रूप से कहे जाने पर भी कठिनाई से जानने योग्य होने के कारण आचार्य का 'यदि तुम समझते हो' आदि आशंकायुक्त कथन उचित ही है । (अत:) तुमने निश्चय ही ब्रह्म के स्वरूप को दहरम् अर्थात् थोड़ा ही समझा है ।

किम् अनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्ति अर्भकाणि च , येन आह दहरम् एव इत्यादि?

शंका – क्या ब्रह्म के छोटे-बड़े अनेक रूप हैं, जिस कारण 'थोड़ा-सा रूप ही जाना है' आदि कहा गया?

बाढम् ; अनेकानि हि नाम-रूप-उपाधि-कृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वत: । स्वत: तु 'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् तथा अरसं नित्यम् अगन्धवत् च यत्' (क. उ. १/३/१५) इति शब्दादिभि: सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते ।

समाधान – हाँ, ऐसा ही है । स्वरूप से तो नहीं, परन्तु विभिन्न नाम-रूप तथा उपाधियों के फलस्वरूप ब्रह्म के अनेक पहलू होते हैं । स्वरूप से तो उसमें शब्दों के साथ ही रूपों का भी निषेध करते हुए (श्रुति में) कहा है – 'जो शब्द, स्पर्श, रूप, नाश से रहित और रसहीन, नित्य तथा गन्धहीन है ।'

ननु येन एव धर्मेण यद् रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपम् इति ब्रह्मणो अपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य स्वरूपं स्यात् । अत उच्यते – चैतन्यम् पृथिवी-आदीनाम् अन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा धर्मो न भवति, तथा श्रोत्रादीनाम् अन्त:करणस्य च धर्मो न भवति इति ब्रह्मणो रूपम् इति ब्रह्म-रूप्यते चैतन्येन । तथा च उक्तम् । 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' (बृ. उ. ३/९/२८) "विज्ञानघन एव' (बृ. उ. २/४/१२) 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. २/१/१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. उ. ५/३) इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु ।

शंका – ऐसा है न, कि जिस गुण के द्वारा ही किसी वस्तु का निरूपण किया जाता है, वही उसका स्वरूप होता है । (अत:) ब्रह्म भी जिस विशेषण के द्वारा निरूपित किया जाता है, वही उसका स्वरूप होना चाहिए । इसीलिए कहते हैं कि चैतन्य न तो पृथ्वी आदि (पाँच तत्त्वों) का, न उनमें से किसी एक या सभी के परिणाम (देह आदि) का गुण होता है । उसी प्रकार न ही श्रोत्रादि (इन्द्रियों) का तथा न ही अन्त:करण

(मन-बुद्धि) का गुण होता है । अतः 'यह ब्रह्म का रूप है' – ऐसा कहकर चैतन्य के द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया जाता है । वैसे ही श्रुतियों में भी यह कहकर ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित किया गया है – 'ब्रह्म ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप है', 'वह केवल ज्ञानघन है', 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त है', 'प्रज्ञान ब्रह्म है'।

सत्यम् एवम्; तथापि तद् अन्तःकरण-देह-इन्द्रिय-उपाधि-द्वारेण एव विज्ञान-आदि-शब्दैः निर्दिश्यते, तद्-अनुकारित्वाद् देहादि-वृद्धि-सङ्कोच-छेद-आदिषु नाशेषु च, न स्वतः । स्वतः तु 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्' (के. उ. २/३) इति स्थितं भविष्यति ।

समाधान – ठीक है, लेकिन वह (चैतन्य) अपने स्वरूप से नहीं, बल्कि अन्तःकरण, देह तथा इन्द्रियों रूपी उपाधियों से युक्त होकर ही 'विज्ञान' आदि शब्दों द्वारा उल्लेखित होता है । (क्योंकि) देह आदि का अनुसरण करते हुए उस (चैतन्य) में भी वृद्धि, संकुचन, छेदन तथा नाश होता है । स्वरूप से तो वह 'जाननेवालों के लिए अज्ञात और न जाननेवालों के लिए ज्ञात है' – ऐसा निष्कर्ष बताया जायेगा ।

यद् अस्य ब्रह्मणो रूपम् इति पूर्वेण सम्बन्धः । न केवलम् अध्यात्म-उपाधि-परिच्छिन्नस्य अस्य ब्रह्मणो रूपं त्वम् अल्पं वेत्थ; यदपि अधिदैवत-उपाधि-परिच्छिन्नस्य-अस्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वं तदपि नूनं दहरम् एव वेत्थ इति मन्ये अहं । यद् अध्यात्मं यद् अपि देवेषु तद् अपि च उपाधि-परिच्छिन्नत्वाद् दहरत्वाद् न निवर्तते । यत् तु विध्वस्त-सर्व-उपाधि-विशेषं शान्तम् अनन्तम् एकम् अद्वैतं भूमा-आख्य नित्यं ब्रह्म, न तत् सुवेद्यम् इति अभिप्रायः ।

(यहाँ) 'यदस्य' शब्द का उसके पहले आये 'ब्रह्मणो रूपम्' (तुमने ब्रह्म का स्वरूप थोड़ा ही जाना है) के साथ सम्बन्ध है । देह-मन आदि में अध्यात्म उपाधि द्वारा सीमित ब्रह्म का जो रूप तुम जानते हो, केवल वही अल्प नहीं है, बल्कि (इसके अतिरिक्त) अधिदेवता उपाधि द्वारा सीमित ब्रह्म का जो स्वरूप तुम देवताओं में जानते हो, वह भी निश्चित रूप से अल्प ही है – ऐसा मैं मानता हूँ । जो अध्यात्म (देह आदि) में है और जो देवताओं में है, वह भी उपाधि द्वारा सीमित होने के कारण अल्पता से मुक्त नहीं है । परन्तु जिसके समस्त उपाधियों रूप लक्षणों का नाश हो चुका है; ऐसा शान्त, अनन्त, एक, अद्वैत भूमा नामवाला जो नित्य ब्रह्म है, वह (मन-वाणी के अगोचर होने के कारण) भलीभाँति जानने योग्य नहीं है ।

यत एवम् अथ नु तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्यम् एव ते तव ब्रह्म । एवम् आचार्य-उक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्, यथा-उक्तम् आचार्येण आगमम् अर्थतो विचार्य, तर्कतः च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्य-सकाशम् उपगम्य उवाच – मन्ये अहम् अथ इदानीं विदितं ब्रह्म इति ।।१।। (९)

चूँकि ऐसा (भलीभाँति जानने योग्य नहीं) है, अतः मुझे लगता है कि तुम्हें अब भी ब्रह्म के विषय में विचार करना होगा । आचार्य द्वारा ऐसा कहे जाने पर शिष्य ने एकान्त में बैठकर एकाग्र मन से आचार्य द्वारा ऊपर कहे गये उपदेश (ज्ञान) पर अर्थपूर्वक विचार, युक्तिपूर्वक निश्चय तथा प्रत्यक्ष अनुभव करने के बाद आचार्य के पास जाकर कहा – अब मैं ऐसा मानता हूँ कि ब्रह्म मुझे ज्ञात हो गया है ।।१।।

कथमिति, श्रृणु -

– कैसा समझा हूँ, सुनिये –

❖ **(क्रमशः)** ❖

(पृष्ठ २२४ का शेषांश)

आलवन्दार को अपने क्षुद्र राज्य में लौटने की रुचि न रही । उन्होंने महात्मा नम्बी से दीक्षा ली और जीवन का शेषभाग श्री रंगनाथजी की सेवा में बिताने लगे । जिस मंत्र के द्वारा आच्छादित रत्न मुक्त होकर ग्रहणीय हो जाता है, वही अष्टाक्षरी मंत्र नम्बी से पाकर, उसके द्वारा मोह का आवरण हटाकर आलवन्दार ने श्री रंगनाथ के स्वरूप का साक्षात्कार किया और प्रतिदिन तुलसीदल के साथ उनकी पूजा करने लगे । अनन्त नाग ने जिन पर छत्र के रूप में अपना फन फैला रखा है, हर बारह वर्ष में राक्षसराज महात्मा विभीषण जिनकी पूजा करने आते हैं, उन्हीं परमपुरुष परमेश्वर के नित्य सेवकों में गण्य होकर आलवन्दार ने स्वयं को धन्य माना ।

उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम भाग में स्तोत्र-रत्नम्, सिद्धि-त्रयम्, आगम-प्रामाण्यम् तथा गीतार्थ-संग्रह नामक चार ग्रन्थ लिखे । इन ग्रन्थों में विशिष्टाद्वैतवाद का सविस्तार वर्णन है । उनकी और भी अनेक ग्रन्थ लिखने की इच्छा थी, परन्तु शरीर क्रमशः जीर्ण हो जाने के कारण यह श्रमसाध्य कार्य पूरा कर पाना उनके लिये असम्भव हो गया । परन्तु शीघ्र मानो उनकी अमोघ इच्छा ने ही श्री रामानुज का विग्रह धारण करके उनकी उक्त कामना को रूपायित कियां था । श्री रामानुज आलवन्दार के ही पूर्ण विकास मात्र थे । ❖ (क्रमशः) ❖

वर्तमान का सदुपयोग

स्वामी सत्यरूपानन्द

यदि आपका आज अर्थात् वर्तमान का चिंतन, शुभ और उदात्त है, कर्म अच्छे और परोपकारी हैं, तो आपका आज का जीवन शुभ, सुन्दर और आनदमय होगा । इतना ही नहीं आपके आगामी कल का जीवन भी सुन्दर और सुखी होगा। गत कल के बिगड़े हुए कर्म की क्षतिपूर्ति भी हो जायेगी।

वर्तमान के सदुपयोग में ही जीवन की सफलता है, सिद्धि है, सुख है, सार्थकता है। कई बार मन में प्रश्न उठता है ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिये है कि संसार के सभी कार्य समय के भीतर ही होते हैं। ससार समय में ही अवस्थित है। समय के बाहर कुछ भी नहीं है। समय ही जीवन है, ससार है; और हम सभी जानते हैं कि समय न तो भूतकाल में होता है और न भविष्य में समय केवल वर्तमान में ही है।

भूत स्मृति है और भविष्य कल्पना। कल्पना और स्मृति केवल मानसिक जगत का कार्य है जीवन का यथार्थ नहीं, यथार्थ तो वर्तमान ही है। जीवन के यथार्थ कार्य वर्तमान में ही किये जा सकते हैं। अतः जीवन में जो भी करना है उसे वर्तमान में ही आरभ करना होगा। ऐसा होने पर जीवन सक्रिय और गतिशील हो उठता है; और हम यह देखते हैं अनुभव करते हैं कि जीवन वृक्ष का फल सक्रियता एवं गतिशीलता की शाखाओं में ही लगता है। यहाँ एक व्यवहारिक प्रश्न आता है कि वर्तमान का उपयोग कैसे करें? समय का स्वभाव, हमें समय के स्वभाव को ठीक-ठीक समझ लेना होगा समय की जिस ईकाई से हम साधारणतः परिचित हैं, वह है - क्षण या सेकण्ड, इससे बड़ी ईकाई है मिनट । मिनट से हम सब भलीभाँति परिचित हैं तथा हम सभी दैनंदिन जीवन में उसका उपयोग भी करते हैं। पर बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारा ध्यान प्रायः मिनट की ओर नहीं जाता तथा हम समय को घंटों, दिनों, सप्ताहों, महीनों और वर्षों में पकड़ते हैं । हम प्रायः सोचा करते हैं कि २ घंटे में कोई पुस्तक पढ़ लेंगे या कोई पत्र अथवा लेख आदि लिख लेंगे । अगले दिन से या अगले सप्ताह से स्वास्थ्य सुधार के लिये व्यायाम प्रारभ करेंगे। अगले महीने से किसी विषय विशेष का अध्ययन प्रारभ कर देंगे, अगले वर्ष अमुक कार्य या व्यवसाय में लग जाएँगे आदि।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि भविष्य की ये योजनायें तो ठीक हैं, पर इन सभी योजनाओं के लिये वर्तमान में हम कुछ अवश्य कर सकते हैं। हमारे भविष्य की सभी योजनाओं की सफलता हमारे वर्तमान की तैयारी पर निर्भर करती है। भविष्य की सभी योजनाओं का उत्स वर्तमान ही होता है। वर्तमान में हम अपने जीवन को जितना अधिक सयत, व्यवस्थित तथा सुनियोजित करेंगे, भविष्य के कार्य के लिये हम उतने ही अधिक योग्य हो सकेंगे एव उतनी ही हमारे भविष्य की योजनाओं की सफलता की सभावना भी होंगी तथा हम सफल और कृतार्थ भी हो सकेंगे। समय वर्तमान में ही होता है, अतः समय को पकड़ने के लिये, उसका सदुपयोग करने के लिये, सर्वप्रथम हमें समय के सबंध में जागरुक होना चाहिये। समय का सदुपयोग हम इसीलिये नहीं कर पाते कि हम उसके संबंध में सावधान तथा जागरूक नहीं होते हैं। हमें प्रायः समय के बीतने का ध्यान ही नहीं रहता, जिसके कारण हमारा अधिकाश समय व्यर्थ के कार्यों या आलस्य प्रमाद, आदि में ही व्यतीत हो जाता है और हम उस समय का लाभ नहीं ले पाते।अस्तु, समय के सबंध में जागरूक रहना होगा।

समय को पकड़ने का, उसका सदुपयोग करने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है - २४ घंटे का एक दैनिक कार्यक्रम बना लेना । यह कार्यक्रम प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी परिस्थिति, सुविधा, आदि के अनुसार बनाना होगा। मुख्य बात है सोच-विचारकर अपने लिये एक ऐसी दिनचर्या बना लेना जिसका पालन करना सहज ही सभव हो। इस दिनचर्या में अपनी नौकरी, व्यवसाय, कार्य आदि के अनुसार अपने सभी कार्यों के लिये समय निर्धारित कर लेना चाहिये। समय निधारण में कार्यों की प्राथमिकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार प्राथमिकता निर्धारित करना होता है। उसी क्रम में प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित करना होगा।

समय का सदुपयोग करने के लिये दिनचर्या का प्रारंभ सुबह उठने से करना चाहिये। वस्तुतः हमारे जीवन में समय का प्रारंभ ही तब होता है, जब हम सोकर उठते हैं तथा अपने विभिन्न दैनिक कार्यों में लग जाते हैं। अतः दिनचर्या का प्रारभ प्रातः उठने से करें। उठने से रात सोते तक प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित कर लें, तथा क्रमवार प्रत्येक कार्य करते चलें । यहाँ तक कि खान-पान, सैर-सपाटे, मनोरजन, आमोद-प्रमोद आदि सभी कार्यों के लिये एक समय निर्धारित कर लें, तथा उसके अनुसार कार्य करें। इस प्रकार कार्य करने पर हम समय का अधिक से अधिक उपयोग कर सकेंगे, तब हमारे पास सभी आवश्यक कार्य करने का समय रहेगा। हमारे सभी कार्य सुव्यवस्थित एव सुन्दर होंगे। हमारा वर्तमान सुख और शान्तिपूर्ण होगा। जीवन की सफलता का यही रहस्य है।

ईसप की नीति-कथाएँ (५)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व जन्मे ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करने वाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग में भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यो का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । –. सं.)

सिंह और भैंसा

एक बार एक सिंह और एक भैंसा प्यास से कातर होकर एक तालाब में पानी पीने गए । दोनों के एक साथ पहुँचने के कारण यह विवाद खड़ा हो गया कि पहले कौन पानी पियेगा । दोनो का संकल्प था कि प्राण भले ही चले जायँ, लेकिन विपक्षी को पहले पानी नहीं पीने देंगे । ऐसी हालत में युद्ध के अलावा और कोई चारा नहीं दिख रहा था ।

उसी समय दोनों की दृष्टि ऊपर की ओर गई । बहुत-से चील, कौए तथा गिद्ध उनके सिर पर मंडरा रहे थे । दोनों समझ गए कि लड़ाई में जिसकी मृत्यु होगी, उसी का मांस खाने के लिये ये लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं । इससे दोनों के मन में सद्बुद्धि का उदय हुआ । दोनों एक-दूसरे को कहने लगे – चलो भाई, ठण्डे हो जाओ; लड़ाई करने की कोई जरूरत नहीं है; व्यर्थ ही झगड़ा करके कौओं तथा गिद्धों का भोजन बनने की अपेक्षा चुपचाप पानी पीकर चले जाना ही हर प्रकार से श्रेयष्कर है ।

छोटी-मोटी बातों को सहन न करके उसे लड़ाई-झगड़े का मुद्दा बना लेने से बहुधा दोनों पक्षों को नुकसान उठाना पड़ता है । सहनशीलता एक अति उत्तम गुण है ।

चोर और कुत्ता

एक चोर किसी गृहस्थ के घर चोरी करने गया था । उस घर में एक कुत्ता रात भर पहरा दिया करता था । चोर ने उस कुत्ते को देखकर सोचा कि इसका मुख बन्द न किया जाय, तो यह भूँक-भूँककर घर के मालिक को जगा देगा और ऐसा होने पर मेरा उद्देश्य सफल नहीं होगा । इसलिए पहले इसका मुँह बन्द करना आवश्यक है ।

ऐसा सोचकर चोर कुत्ते के सामने माँस की बोटियाँ फेंकने लगा । इस पर कुत्ते ने कहा, "तुमको देखकर मेरे मन में पहले से ही कई प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हुई थी और अब तुम्हारा कार्य देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि तुम भले आदमी नहीं हो । तुम्हारी योजना मेरा मुँह बन्द करके गृहस्वामी का सर्वनाश करने की है । इसलिए यदि अपना भला चाहते हो, तो जल्दी से अपना रास्ता नापो ।

अकारण ही कोई उपहार देनेवाले का उद्देश्य बुरा हो सकता है, अत: ऐसे व्यक्ति से अत्यन्त सावधान रहना चाहिये ।

बिल्ली के गले में घण्टी

बिल्ली के आतंक से चूहे आकुल थे । उससे मुक्त होने के लिये उन लोगों ने सलाह-मशवरा करने के लिये एक सभा बुलाई । सभा में सभी लोग अपना अपना मत व्यक्त करने लगे, परन्तु किसी भी प्रस्ताव पर आम सहमति नहीं हो सकी । आखिरकार एक बुद्धिमान चूहे ने कहा – बिल्ली के गले में एक घण्टी बाँध दिया जाय; घण्टी की आवाज होने पर हम लोग समझ जायेंगे कि बिल्ली हम लोगों को पकड़ने आ रही है और हम लोग पहले से ही सावधान हो जायेंगे ।

यह प्रस्ताव सुनते ही सभी चूहे उसकी प्रशंसा करने लगे और सबकी सहमति से यही करने का निर्णय लिया गया । एक वृद्ध चूहा तब तक चुप बैठा था । उसने कहा – अमुक चूहे ने जो कुछ कहा है, वह बड़ी बुद्धिमत्ता की बात तो जरूर है और वैसा करने पर हमारी समस्या का समाधान भी हो जायेगा, परन्तु मैं आप लोगों से पूछता हूँ कि हम लोगों में से कौन ऐसा साहसी है जो आगे बढ़कर बिल्ली के गले में घण्टी बाँध देगा । यह सुनकर सभी सन्न रह गये और किसी से कुछ कहते न बन पड़ा ।

दूसरों को सलाह देना बड़ा आसान है, परन्तु उसे कार्यरूप में परिणत करना कभी कभी असम्भव भी हो सकता है ।

पूँछकटा सियार

एक बार हिरणों को पकड़ने के लिये फैलाए हुए जाल में एक सियार फँस गया । शिकारी क्रोध में आकर उसे मार डालना चाहते थे, परन्तु बाद में उसकी कातरता पर द्रवित होकर उन लोगों ने केवल उसका पूँछ काटकर छोड़ दिया । सियार ने पूँछ देकर जान तो बचा लिया, परन्तु उसे लगा कि बिना पूँछ के अपने समाज में जाना अपमानजनक होगा, अत: पूँछ की जगह मेरा प्राण ही चला जाता, तो अच्छा था ।

आखिरकार इस अपमान से छुटकारा पाने का एक उपाय उसके मन में आया । उसने वापस जाकर सभी सियारों को एकत्र किया और कहने लगा, "भाइयो, मेरी इच्छा है कि आप सभी मेरे ही समान अपनी अपनी पूँछ काट लें । पूँछ न रहने से मैं जितने स्वाधीन भाव से घूम-फिर पा रहा हूँ, आप लोग उसकी कल्पना नहीं कर सकते । यदि मैं स्वयं ऐसा प्रयोग करके नहीं देखता, तो शायद मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर

पाता । आप विचार करके देखिए कि पूँछ रहने से हम लोग कितने कुरूप दिखते है और फिर बड़ी असुविधा भी होती है । तात्पर्य यह है कि पूँछ रखने से बेकार का बोझ भर ढोना पड़ता है । मुझे तो यही सोचकर आश्चर्य होता है कि मैंने इतने दिनो तक इसे रखा ही क्यों! मित्रो, मैं अब परम सुविधा का अनुभव कर रहा हूँ और इसीलिए आप लोगों को भी सलाह देता हूँ कि आप भी मेरे ही समान अपनी अपनी पूँछें काटकर फेंक दें । आपको तत्काल समझ में आ जाएगा कि पूँछ न रहने से कितनी सुविधा होती है ।''

यह प्रस्ताव सुनकर एक बूढ़ा सियार सब कुछ भाँप गया । वह आगे बढ़ा और पूँछकटे सियार पर कटाक्ष करते हुए बोला, ''अरे भाई, यदि तुम्हें अपनी पूँछ वापस मिल जाने की आशा होती, तो तुम कदापि हम सभी को अपनी अपनी पूँछ काट लेने की सलाह नहीं देते ।''

सारस और उसका बच्चे

एक सारस ने एक खेत में घोंसला बनाकर उसमें अण्डे दिये थे । अण्डे फूटकर बच्चे भी निकल आए थे और वह दिन भर चारा ढूँढ़कर अपने बच्चों को खिलाता रहता था । इसी बीच खेत की फसल पकने को आ गई । सारस जानता था कि अब किसान लोग आकर फसल काटना शुरू करेंगे । इसीलिए वह प्रतिदिन चारे के खोज में निकलने के पहले अपने बच्चों से कह जाता कि वे लोग उसकी अनुपस्थिति में जो कुछ सुनें, वह सब उसके लौटने पर ठीक ठीक बता दें ।

एक दिन सारस बाहर गया हुआ था । उसी समय खेत का मालिक अपने पुत्र के साथ देखने आया कि फसल काटने लायक हुई है या नहीं । चारों ओर निगाह दौड़ाने के बाद वह पुत्र से कहने लगा, ''फसल पक चुकी है, अब काटने में देरी करना उचित नहीं होगा । घर लौटकर तुम अमुक अमुक पड़ोसियों से इसे काटने में सहायता करने का अनुरोध करो ।'' इतना कहकर वह चला गया ।

शाम को सारस के लौटने पर उसके बच्चे बड़े चिन्तित दिखे । उन लोगों ने किसान की सारी बातें दुहराते हुए कहा, ''माँ, तुम हम लोगों को जल्दी-से-जल्दी यहाँ से अन्यत्र ले चलो । और फिर तुम हमें यहाँ अकेले छोड़कर बाहर भी मत जाना, क्योंकि फसल काटने आनेवाले लोग हमें देखते ही मार डालेंगे ।'' सारस ने कहा, ''बच्चो, तुम लोग इतना डरते क्यों हो? खेत का मालिक यदि पड़ोसियों के आसरे निश्चिन्त है, तो समझ लो कि फसल कटने में अभी काफी विलम्ब है ।''

कुछ दिनों बाद खेत के मालिक ने दुबारा आकर देखा कि उसने जिन पड़ोसियों पर फसल काटने की जिम्मेदारी सौंपी थी, उन्होंने अपना काम पूरा नहीं किया । परन्तु फसल तो पूरी तौर से पक चुकी थी, अत: जल्दी न काटने पर नुकसान होने की सम्भावना थी । इस कारण वह कहने लगा, ''अब और विलम्ब करना उचित नहीं होगा । पड़ोसियों के आसरे रहने से काफी नुकसान हो जाने की सम्भावना है । अब उनका भरोसा छोड़कर अपने भाई-बन्धुओं से कहूँगा कि वे जल्दी आकर फसल काट दें ।'' घर लौटकर उसने अपने पुत्र से कहा, ''जाकर अपने चाचा लोगों से मेरा नाम लेकर कह देना कि वे लोग बाकी काम छोड़कर मेरा खेत काटना आरम्भ कर दें ।''

इसे सुनकर सारस के बच्चे और भी डर गये । सारस के आते ही वे लोग बड़े कातर स्वर में कहने लगे, ''माँ, आज खेत का मालिक आकर ये ये बातें कह गया । तुम हम लोगों के लिये जल्दी कोई व्यवस्था करो । कल तुम हमें बिल्कुल भी छोड़कर मत जाना, यदि गयी तो फिर लौटकर हमें जीवित नहीं पाओगी ।''

यह सुनकर सारस ने हँसते हुए कहा, ''यदि तुम लोगों ने केवल इतनी ही बातें सुनी हो, तब तो डरने की कोई बात ही नहीं है । यदि खेतवाला अपने भाई-बन्धुओं को भार सौंपकर निश्चिन्त है, तब तो फसल कटने में अब भी काफी देरी है । उन लोगों की भी फसलें पक गयी होंगी । वे लोग अपना खेत छोड़कर इनका फसल काटने कदापि नहीं आएँगे । लेकिन खेत का मालिक जब अगली बार आएगा, तो उसकी बातें बड़ी ध्यान से सुनना और मुझे ठीक ठीक बताना ।''

कुछ दिनों बाद बड़े सबेरे सारस के भोजन की खोज में निकल जाने के बाद खेत का मालिक अपने पुत्र के साथ वहाँ आ पहुँचा । उसने देखा कि खेत ज्यों-का-त्यों पड़ा है और फसल इतना पक गया है कि धरती पर भी झड़ने लगा है । वह बड़ा दु:खी और चिन्तित होकर अपने पुत्र से बोला, ''देखो, पड़ोसियों तथा भाई-बन्धुओं के आसरे अब और देरी करना उचित नहीं होगा । आज रात को ही तुमको जितने आदमी मिलें, उन्हें मजदूरी पर तय कर लेना । कल सुबह उन लोगों को लेकर हम लोग खुद ही फसल काटना शुरू कर देंगे, नहीं तो बड़ा नुकसान हो जायेगा ।''

सारस ने शाम को लौटने के बाद ये सारी बातें सुनकर कहा, ''अब हमारा यहाँ ठहरना खतरे से खाली नहीं है । हमें जल्दी-से-जल्दी अन्यत्र चले जाना होगा । जब कोई दूसरों के सहारे निश्चिन्त रहना छोड़कर स्वयं ही अपना काम पूरा करने का संकल्प करता है, तब यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिये कि अब वह अपना काम अवश्य पूरा करेगा ।''

पथिक और कुल्हाड़ी

दो मित्र एक रास्ते से होकर चले जा रहे थे । दोनों में से एक के सामने एक कुल्हाड़ी पड़ी हुई दिखाई दी । उसने तत्काल ही उसे उठाकर अपने कन्धे पर रख लिया और अपने सहचर से बोला, ''देखो भाई, मुझे कितनी सुन्दर कुल्हाड़ी

मिली है ।'' इस पर दूसरा यात्री बोला, ''यह क्या भाई, ऐसा क्यों कहते हो कि मुझे मिला है? कहो कि हमें मिला है । जब हम दोनों एक साथ ही जा रहे हैं, तो कुछ मिलने पर हम दोनों का ही होना उचित है ।'' पहला यात्री बोला, ''नहीं भाई, ऐसा उचित नहीं होगा । तुम तो जानते ही हो कि कोई वस्तु जो पाता है, उसी का हो जाता है । यह कुल्हाड़ी मैंने पाई है, अत: यह मेरा होना ही उचित है । इसमें मैं तुम्हें कदापि हिस्सा नहीं दूँगा ।'' यह सुनकर दूसरा यात्री चुप रह गया ।

तभी जिन लोगों की कुल्हाड़ी खोई थी, वे उसे खोजते खोजते वहीं आ पहुँचे और यात्री के हाथ में कुल्हाड़ी देखकर उसे चोर कहकर पकड़ लिया । इस पर वह अपने सहचर से कहने लगा, ''हाय! अब तो हम मारे जायेंगे ।'' इस पर दूसरा सहचर बोला, ''यह कैसी बात? हम मारे जायेंगे क्यों? कहो कि मैं मारा जाऊँगा । जिसे तुमने अपने लाभ का हिस्सेदार नहीं बनाया, उसे अपनी विपत्ति का हिस्सेदार बनाना क्या उचित है?''

पक्षी और बहेलिया

एक बहेलिये ने फंदा लगाकर एक पक्षी को पकड़ लिया था । पक्षी ने अपनी मृत्यु अवश्यम्भावी देखकर अत्यन्त विनयपूर्वक बहेलिये से कहने लगा, ''भाई, तुम दया करके मुझे छोड़ दो । मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मुझे छोड़ देने पर मैं अन्य पक्षियों को भुलावा देकर तुम्हारे फंदे में फँसा दूँगा । विचार करके देखो कि तुम्हें एक पक्षी के बदले में अनेक पक्षी मिल जायेंगे ।'' बहेलिये ने कहा, ''नहीं, मैं तुम्हें बिल्कुल भी नहीं छोड़ूँगा । जो अपने स्वार्थ के लिये अपने जाति के लोगों तथा सगे-सम्बन्धियों का सर्वनाश कर सकता है, उसकी मृत्यु में ही जगत् का भला है ।''

दु:खी वृद्ध और यम

एक वृद्ध व्यक्ति बड़े दु:खपूर्वक रहता था । उसके परिवार में कोई दूसरा न था और उसके जीविकोपार्जन का भी कोई उपाय न था । वह जंगल के किनारे एक कुटिया बनाकर रहता था और लकड़ियाँ काटकर उन्हें शहर में बेचकर उसी से अपना पेट चलाता था ।

गर्मी का मौसम था । एक दिन वह जंगल में लकड़ी काटकर गट्ठा बनाने के बाद उसे सिर पर रखकर दोपहर की कड़ी धूप में चला जा रहा था । भूख से उसके पेट में जलन हो रहा था, प्यास से गला सूख रहा था, तेज धूप से उसका पूरा शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था और गरम धूल पर चलते हुए उसके दोनों पाँव झुलस रहे थे ।

आखिरकार बहुत थक जाने के बाद वह लकड़ी का गट्ठा धरती पर फेंककर एक पेड़ की छाया में विश्राम करने लगा । थोड़ा ठण्डा होने के बाद वह मन-ही-मन सोचने लगा कि इतना कष्ट उठाकर जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना ही बेहतर होता । मृत्यु भी मेरे पास क्यों नहीं आती? मेरे जैसे अभागे का मर जाना ही हितकर है ।

इस प्रकार अपने दु:ख की बातें सोचते हुए वह यमराज को सम्बोधित करते हुए कहने लगा, ''हे यम, तुम भी मुझे क्यों भुले हुए हो? जल्दी आकर मुझे उठा लो, ताकि मुझे इस जीवन से छुटकारा मिल जाय । अब मैं और अधिक सहन नहीं कर पा रहा हूँ ।''

उसका कहना समाप्त होते-न-होते यमराज आकर उसके सामने प्रकट हो गये । वह उनकी विकट मूर्ति देखकर घबड़ाकर पूछने लगा, ''आप कौन हैं? यहाँ किसलिये आए हैं?'' वे बोले, ''मैं यम हूँ, तुमने मुझे पुकारा था, इसीलिए आया हूँ । अब बोलो, तुम मुझे किसलिए पुकार रहे थे ।'' वृद्ध बोला, ''महाराज, आप जब आ ही गये हैं, तो दया करके यह लकड़ी का गट्ठा मेरे सिर पर उठा दीजिए, मैं आपका बड़ा आभारी रहूँगा ।'' यह सुनकर यमराज मुस्कुराते हुए वृद्ध के सिर पर लकड़ी का गट्ठा चढ़ाकर अन्तर्धान हो गये ।

गरुड़ और कौआ

एक पहाड़ की तलहटी में कुछ भेड़ें चर रही थीं । एक गरुड़ ऊपर से उतरा और झपट्टा मारकर भेंड़ के एक बच्चे को उठा लिया और पुन: पहाड़ पर चला गया । इसे देखकर एक कौए ने सोचा कि मैं भी क्यों न इसी प्रकार झपट्टा मारकर एक भेंड़ अथवा भेंड़ के बच्चे को उठा लूँ । गरुड़ ने यदि ऐसा किया है, तो मैं भी क्यों न कर सकूँगा? इतना सोचकर उसने एक भेंड़ के ऊपर झपट्टा मारा और इसके साथ ही भेंड़ की बालों में उसके पंजे फँस गये ।

इस प्रकार फँसकर कौआ छटपटाने लगा और प्राण के भय से काँव काँव करने लगा । चरवाहा शुरू से आखिर तक का सारा मामला देखकर हँसते हुए वहाँ जा पहुँचा और उसने मूर्ख कौए को पकड़कर उसके पंख काट डाले । शाम को वह उस कौए को घर ले गया । चरवाहे के बच्चों ने उसे देखकर पूछा – बाबा, तुम हम लोगों के लिये यह कौन-सा पक्षी लाये हो? चरवाहा बोला – यदि तुम लोग उसी से पूछो तो कहेगा कि मैं गरुड़ हूँ, परन्तु मैं उसे कौए के रूप में ही जानता हूँ ।

अपनी सामर्थ्य को जाने बिना दूसरों की नकल करना मूर्खता का द्योतक है ।

❖ (क्रमशः) ❖

डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कृषि वैज्ञानिक डॉ. स्वामीनाथन सन् १९६० के दशक से एशिया के कृषि तथा फॉर्म अनुसन्धान की उन्नति तथा उसको गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करानेवाले अद्‌भुत कर्मठ व्यक्ति हैं। 'टाइम' पत्रिका द्वारा प्रकाशित बीसवीं शताब्दी के '१० प्रभावशाली एशियावासियों की सूची' में भारत में 'हरित-क्रान्ति' के अग्रदूत ७४ वर्षीय डॉ. स्वामीनाथन का नाम भी शामिल है।

डॉ. स्वामीनाथन ने हालैण्ड, इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में भी शिक्षा प्राप्त की। प्रख्यात अर्थशास्त्री माल्थस ने द्रुत गति से बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्य-आपूर्ति की असमर्थता को देखते हुए निकट भविष्य में भयानक विश्वव्यापी अकाल तथा भूखमरी की भविष्यवाणी की थी। परन्तु उनकी भविष्यवाणी को डॉ. स्वामीनाथन ने झूठा सिद्ध कर दिया। सन् १९६० के दशक में उन्होंने दिल्ली के भारतीय कृषि शोध सस्थान में अपने सहकर्मियों के साथ गेहूँ की एक नई सकर प्रजाति का विकास किया।

डॉ. स्वामीनाथन कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी.एच.डी. तथा विस्कोन्सिन विश्वविद्यालय से पोस्ट डॉक्टरल रिसर्च करने के बाद १९५४ ई. में भारत लौटे। डॉ. स्वामीनाथन को देशभक्ति की भावना अपने स्वतत्रता-संग्राम-सेनानी पिता से विरासत में मिली थी। उनमें राष्ट्रसेवा की प्रबल उत्कण्ठा थी। उन्होंने केन्द्रीय चावल शोध संस्थान, कटक तथा भारतीय कृषि शोध संस्थान, दिल्ली के प्रयोगशालाओं में लगातार १८ वर्षों तक शोधकार्य किया। उन्हें सन् १९७२ में इण्डियन कौन्शिल फॉर एग्रीकल्चरल रिसर्च (आई. सी. ए. आर.) का महानिदेशक बनाया गया।

उन दिनों भारत अमेरिका से आयातित अन्न का मुहताज था। नोबल पुरस्कार प्राप्त कृषि वैज्ञानिक डॉ. नार्मन बॉरलोग ने मेक्सिको तथा जापान के गेहूँ को सकरित करके गेहूँ की एक नई प्रजाति विकसित की थी। डॉ. स्वामीनाथन ने रॉकफेलर फाउण्डेशन की सहायता से उसी नई प्रजाति के गेहूँ को मेक्सिको से मँगवाया। उन्होंने गेहूँ की उस नई प्रजाति के साथ भारतीय गेहूँ को संकरित करके सुनहरे रंग की गेहूँ की एक नई प्रजाति विकसित की, जो भारतीय जलवायु में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। इस नवीन खोज ने १९७० तथा १९८० के दशक में एशिया के कृषि जगत् में एक महान् क्रान्ति ला दी, जो 'हरित-क्रान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है।

डॉ. स्वामीनाथन को भारतीय कृषि हेतु नवीन योजना निर्माण करने के लिये तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने पूरा अधिकार दिया था। डॉ. स्वामीनाथन ने अपनी नई खोज को प्रचारित करने के लिये २००० फॉर्मों में इसका प्रदर्शन किया। परम्परागत पद्धतियों में अभ्यस्त भारतीय किसानों को इन नये बीजों का उपयोग करने में सहमत कराने के कठिन कार्य की जिम्मेदारी भी उन्होंने स्वयं ही वहन की। कृषकों के मन में विश्वास जमने के बाद आगे का मार्ग आसान हो गया था।

जो भारत सन् १९६० के दशक के दौरान प्रतिवर्ष केवल सवा करोड़ टन गेहूँ का उत्पादन करता था, वही अब प्रतिवर्ष सात करोड़ टन गेहूँ का उत्पादन कर रहा है। यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं है। वस्तुतः एशिया के देश जो एक समय खाद्यान्नों के पक्के आयातक थे, वे ही आज इसके विशुद्ध रूप से निर्यातक देश हो गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय चावल शोध संस्थान, मनीला (फिलीपिन्स) के महानिदेशक पद से सेवानिवृत्त होने के बाद सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक डॉ. स्वामीनाथन ने जुलाई १९८८ में चेन्नै में 'एम. एस. स्वामीनाथन शोध प्रतिष्ठान' नामक एक आदर्श पथ-प्रदर्शक कृषि शोध संस्थान स्थापित किया, जिसका लक्ष्य 'अप्राप्त को पाना' है।

यह संस्थान एक बिना आयवाली गैर-राजनैतिक ट्रस्ट है, जो सर्व-साधारण के भरण-पोषण तथा न्याय-सगत सामाजिक विकास के लिये विज्ञान तथा तकनीकी का सदुपयोग करने के उद्देश्य से स्थापित की गई है।

डॉ. स्वामीनाथन विशाल हृदयवाले एक उदारचेता दानदाता भी हैं। उन्हें अभी तक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। उन्होंने पुरस्कार में प्राप्त होनेवाली धनराशि को विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान में दे दिया। उन्हें १९८६ में अल्बर्ट आइन्स्टीन विश्व विज्ञान पुरस्कार से सम्मानित किया गया, जिसमें उन्हें २०,००० डालर की धनराशि प्राप्त हुई। यह धनराशि उन्होंने फिलीपिन्स के विश्वविद्यालय को 'पर्यावरण पीठ' की स्थापना के लिये दान कर दी।

डॉ. स्वामीनाथन तथा उनकी संस्था 'एम.एस.एस.आर.एफ.' को अभी तक विश्व खाद्य पुरस्कार (१९८७), टाइलर पुरस्कार (१९९१), होण्डा पुरस्कार (१९९२), यू.एन.ई.पी. ससकवा पर्यावरण पुरस्कार (१९९४), ब्लू प्लेनेट पुरस्कार (१९९६) आदि अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। इन पुरस्कारों से प्राप्त सम्पूर्ण धनराशि को डॉ. स्वामीनाथन ने 'बहुजनहिताय' अपनी संस्था 'एम.एस.एस.आर.एफ.' को दान में दे दी है।

डॉ. स्वामीनाथन हमेशा अपने समय से आगे रहे हैं। जब किसानों को वैज्ञानिक पद्धति से कृषि करने के लिये प्रोत्साहन हेतु प्रबल अभियान की शुरूआत हुई, उसके डेढ़ दशक पहले से ही वे किसानों को नई तकनीकी से कृषि करने हेतु सहायता तथा उनमें जागृति लाने के लिये प्रयासरत थे।

अपनी उपलब्धियों के सम्बन्ध में डॉ. स्वामीनाथन अपनी स्वाभाविक विनय भाव के साथ कहते हैं, ''इस प्रयास के लिये आवश्यक प्रेरणा, उन असंख्य कृषि वैज्ञानिकों तथा कृषकों के मेहनत और भाग्य का फल था, जिनके साथ मैंने काम किया।'' टाइम पत्रिका के मतानुसार भारतीय कृषि जगत् में डॉ. स्वामीनाथन का योगदान 'इतिहास-निर्माता' की है, जो न केवल एशिया, वरन् पूरे विश्व की उन्नति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायेगा।